संस्कृतविद्यापीठग्रन्थमालायाः पञ्चाशीतितमं पुष्पम्

बृहत्त्रयीपरिशीलनम्

(सांस्कृतिकखण्डः)

सम्पादिका

प्रो. अमिताशर्मा



श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
नवदेहली-110016

संस्कृतविद्यापीठग्रन्थमालायाः पञ्चाशीतितमं पुष्पम्

बृहत्त्रयीपरिशीलनम्

सांस्कृतिकखण्डः

प्रधानसम्पादकः
प्रो. राधावल्लभत्रिपाठी
कुलपतिः

सम्पादिका
प्रो. अमिताशर्मा



श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
नवदेहली

प्रकाशक:
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानित-विश्वविद्यालय:)
कुतुब सांस्थानिकक्षेत्रम्
नवदेहली-११००१६

(UGC से अनुदान प्राप्त SAP (DRS-I) संस्कृत साहित्य श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली द्वारा प्रस्तुत)

आई.एस.बी.एन : 81-87987-60-x

प्रकाशनवर्ष: - 2013

मूल्यम् : 170/- ₹

मुद्रक:
अमरप्रिंटिंगप्रैस:
देहली-११०००९
दूरभाष: : 9871699565, 8802451208

प्रो. राधावल्लभत्रिपाठी
कुलपतिः (प्रभारी)
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
बी-४, कुतुब-इन्स्टीट्यूशनलएरिया, नवदेहली-110016



Prof. Radhavallabh Tripathi
Vice-Chancellor (I/c)
Shri Lal Bahadur Shastri Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha
(Deemed University)
B-4, Qutub Institutional Area, New Delhi-110016

पुरोवाक्

विश्वविद्यालयानुदानायोगस्यार्थानुदानेन श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रिय-संस्कृतविद्यापीठस्थसाहित्यविभागेन परिचालितया बृहत्त्रयी-बृहत्कोश-परियोजनया खण्डत्रयेण बृहत्त्रयीपरिशीलनमित्याख्यं नानानवविचारनिर्भरं पुस्तकं प्रकाश्यत इति हर्षप्रकर्षमनुभवति मे मनः। शास्त्रपरिनिष्ठित-प्रतिष्ठितविदुषां विचारा अत्र शोधलेखरूपेण सङ्कलय्य प्रकाशिताः साहित्यविचारवाङ्मये नवां दिशमाविष्करिष्यन्तीति नात्र संशयः।

जानन्त्येव विपश्चितो यत् समग्रसाहित्यवाङ्मये बृहत्त्रय्याः स्थानं विशिष्टम्। तद्गतञ्चाध्ययनमप्यध्येतॄणां विशेषत्वं प्रमाणीकृत्य विद्वन्निकषोप-लत्वमात्मनः सन्दर्शयति। बृहत्त्रय्यां विद्यमानमनितरसाधारणं गौरवं यावद्वर्णितमप्यवशिष्यते, तथापि सुधियः स्वीयनवनवदृशा तदुन्मीलने प्रयतमाना वर्तन्त इतीयं काऽपि गतानुगतिकी भारतीयचिन्तनप्रज्ञापरम्परेति प्रत्येतुं शक्नुमः। श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठस्य साहित्यविभागो विश्वविद्यालयानुदानायोगेन विशेष-सहायता-योजनायाम् (Special Assistance Programme इत्याख्यायाम्) अनुदानाय स्वीकृतः, बृहत्त्रयी चास्यां योजनायां विशिष्टानुशीलनक्षेत्रं स्यादिति च निर्धारितम्। अतश्च बृहत्त्रयीविषये बृहच्छोधयोजना एतस्मिन् विभागे प्रवर्तत इति युज्यत एव। अस्मिन् क्रमे ग्रन्थस्यास्य प्रकाशनं जायत इति महदिदं नः परितोषस्थानम्। नूनमिदं परिशीलनं विदुषामुपकाराय प्रभवेदिति विश्वसिमि।

६.१.१३

प्रो. राधावल्लभः त्रिपाठी

कुलपतिः

सम्पादकीयम्

गुणब्रह्मगगनपक्षाख्ये (2013) नवसंवत्सरे वसुमतीं स्पृशति सति विश्वविद्यालयानुदानायोगविशिष्टानुदानपरिचालितपरियोजनापक्षतः श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठसाहित्यविभागेन खण्डत्रयेण बृहत्त्रयीपरिशीलनमात्मप्रकाशं लभत इति सुतरां सुखावहोऽयं क्षणो नः। वर्षत्रयात् पूर्वमारब्धाया अस्याः बृहत्त्रयीपरियोजनायाः खण्डत्रयेण 2013 इति त्रिसङ्ख्यायुक्तसंवत्सरे आचार्यराधावल्लभत्रिपाठिनां कौलपत्यमधिष्ठिते सति परिश्रमयज्ञफलरूपेंणेदं प्रकाश्य विदुषां नयनातिथिं कारयन्तो वयं त्रीति सङ्ख्यायाः परियोजनाहितकरत्वं विशेषतोऽनुभवामः। परियोजनाप्रस्तावपत्रे बृहत्त्रयी-बृहत्कोशखण्डान् त्रीनतिरिच्य प्रस्तावकैरस्माभिः पञ्च बृहत्त्रयीप्रस्तावखण्डाः परिकल्पिता आसन्, येषु त्रयः खण्डाः सम्प्रति विदुषां पुरत उपस्थाप्यन्ते। एषु परिचयाख्यः प्रथमः खण्डः, सांस्कृतिकाभिधो द्वितीयः, काव्यशास्त्रीयनामा च तृतीयः। एषु खण्डेषु बृहत्त्रयीपरिशीलनक्षेत्रेऽनेकेषां कृतश्रमाणां लब्धयशसां विदुषां तत्सम्बद्धान्यभिमतानि तत्तत्प्रामाणिकलेखेषु प्रकाशितानि वर्तन्ते।

बृहत्त्रयीपदेन महाकविभारवि-माघ-श्रीहर्षैर्यथाक्रमं विरचितानि किरातार्जुनीय-शिशुपालवध-नैषधीयचरिताभिधानानि त्रीणि महाकाव्यानीति विदितचरमेव विपश्चिताम्। इयं हि बृहत्त्रयी-

.... भारवेरर्थगौरवम्।
नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

इति प्रसिद्धयोक्त्या महार्घ काव्यशास्त्रीयं सौन्दर्य समासादयन्ती प्रत्यक्षीक्रियते तज्ज्ञैः। किञ्च, **नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः, माघे मेघे गतं वयः, नैषधं विद्वदौषधमि**त्यादिभणितयः प्रथयन्ति सुतरां प्रसिद्धिं बृहत्त्रय्याः। अपिच, सर्वशास्त्रपाण्डित्यप्रकर्षोऽप्येषु महाकाव्येषु पुरस्क्रियते।

संस्कृतपदप्रयोगपरम्पराया: सार्थकसमुन्मेषोऽप्यत्र विलोक्यते। अथ च, सामाजिक–सांस्कृतिकतत्त्वनिचयनिष्कर्षोऽपीह प्रकर्ष भजते। अर्थादेकेनैव वाक्येनेदं स्पष्टमभिधातुं न कुण्ठामहे यत् सर्वविधज्ञानराशिसन्धानपरिपूर्णतां बृहत्त्रयी प्रापयितुं गर्जति। अत: **''पाण्डित्यं यदि काङ्क्ष्यते बहुविधं काव्यत्रयी सेव्यताम्''** इति पण्डितानां केषाञ्चिद् वचो याथार्थिकम्।

इमामेवं बृहत्त्रयीमुररीकृत्य बृहत्कोशप्रस्तुत्यै विद्यापीठसाहित्यविभागेन 2009 वर्षे विश्वविद्यालयानुदानायोगात् सैप परियोजनाऽधिगता। विशेषपरिचयकथनं विना कोशप्रस्तुतिर्नीरसाऽपूर्णा च मा प्रतीयतामिति धिया खण्डानामेतादृशां प्रकाशने न: संरम्भ:। शिष्टखण्डद्वयमपि प्रकाशयिष्यत आगामिकाले। कार्यस्यास्य सम्पूर्त्यै साहाय्यमाचरितवत्सु सदैव साधुप्रकाशनतत्परेषु आचार्यराधावल्लभत्रिपाठिवर्येषु विद्यापीठकुलपतिषु वयं कृतज्ञा:। शोधप्रकाशनविभागमुख्येभ्य आचार्यरमेशकुमारपाण्डेयवर्येभ्योऽपि तेषां साहाय्ययोगात् कार्तज्ञमाविष्कुर्म:। विद्यापीठकुलसचिवा: डॉ. विजयकुमारमहापात्रमहोदया अपि प्राशासनिकार्थिकानुकूल्यकारणान्न: कृतवेदिताग्राहका:। अवसरेऽस्मिन् दिवङ्गतपूर्वकुलपतीन् आचार्यवाचस्पत्यु-पाध्यायानपि सविनयं स्मराम:। कृतज्ञतामपि विनिवेदयाम: परियोजनापरामर्शदा-तृमण्डलीं प्रति। धन्यवादार्हा: सर्वेऽपि साहित्यविभागाध्यापका:। साधुवादार्हौ च परियोजनासहायकौ जीवनकुमार–गोपालकुमारौ।

इदं हि बृहत्त्रयीपरिशीलनं बुद्धिमतां बोधनविवर्धने रेणुकणतामु-पयात्वित्याशास्ते–

प्रथमदिवस: **प्रो. अमिता शर्मा**

2013

अनुक्रमः

संस्कृतसाहित्य के परिप्रेक्ष्य में सांस्कृतिक अध्ययन- एक परिचय

प्रो. अमिता शर्मा

संस्कृति शब्द को अनेक विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है जैसे 'संसार में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई हैं - उनसे अपने आप को परिचित कराना संस्कृति है।' अथवा 'संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है।' अथवा 'मन, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि है।"[1]

व्याकरण सम्मत व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'संस्कृति' शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृञ् करणे' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय संलग्न कर निष्पन्न हुआ है। इसमें 'सुट्' का आगम 'संपरिभ्यां करातौ भूषणे (अष्टा. 6.1. 137)' सूत्र से भूषण अर्थ में हुआ है। अतः किसी भी काल, समाज अथवा देशविशेष की भूषणात्मिका क्रिया ही 'संस्कृति' शब्द से अभिप्रेत है।

आदि मानव के सभ्यता की ओर अग्रसर होने के साथ ही संस्कृति की यात्रा भी प्रारम्भ हुई। पारिवारिक और सामाजिक संघटन, प्रशासन और न्याय की व्यवस्था, आजीविका के साधन, मानव जीवन की स्वाभाविक आकांक्षाओं और उपभोगों को पूरा करने के साधन, कला, विज्ञान, धर्म, दर्शन आदि विषयों पर गहन विचार आदि का सामूहिक नाम है संस्कृति। 'भारतस्य सांस्कृतिको दिग्विजयः' नामक ग्रन्थ में प्राचीनकाल में विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रचार प्रसार के निमित्त के

रूप में इन तत्त्वों का उल्लेख किया गया है।[2] ग्रन्थकार श्रीहरिदत्तवेदालंकार के मत में भारत ने बाहुबल से नहीं वरन् संस्कृति के प्रचार-प्रसार के माध्यम से दिग्विजय प्राप्त की। भारतीय संस्कृति की यह गरिमा पूर्ण सुदीर्घ यात्रा उसे विश्व की संस्कृतियों में सर्वश्रेष्ठ एवं प्राचीनतम सिद्ध करती है।

प्रसिद्ध मनीषी एवं इतिहासविद् पं. जवाहरलाल नेहरू ने भारतीय संस्कृति के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन इन शब्दों मे किया है-'भारतीय जनता की संस्कृति का रूप सामासिक है और उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। इस संस्कृति में समन्वय और नए उपकरणों को पचाकर आत्मसात् करने की अद्भुत योग्यता थी।[3]

इसी सामासिक संस्कृति को चार सोपानों में विभाजित करते हुए आचार्य रामधारीसिंह दिनकर लिखते हैं- 'भारतीय संस्कृति में चार बडी क्रान्तियाँ हुई और हमारी संस्कृति का इतिहास इन्हीं चार क्रान्तियों का इतिहास है।[44]

उनके मत में आर्य और आर्येतर जातियों के आपसी सम्पर्क से जो संस्कृति उत्पन्न हुई, वही भारत की बुनियादी या प्रथम संस्कृति है। दूसरी सांस्कृतिक क्रान्ति इस स्थापित बुनियादी संस्कृति के विरुद्ध महावीर और गौतम बुद्ध के विद्रोह के फलस्वरूप हुई। तीसरी क्रान्ति भारत में इस्लाम धर्म के प्रवेश के समय तथा चौथी क्रान्ति भारत में यूरोपदेशीयों के आगमन पर हुई। इस प्रकार इन्होंने सम्प्रति उपलब्ध भारतीय संस्कृति के चार सोपान या अध्याय माने हैं। इन्हीं का सामासिक रूप है भारतीय संस्कृति। इसीलिए इसमें इतनी विविधता है लेकिन साथ ही इसके क्रमिक विकास ने इसे मिश्रित स्वरूप भी प्रदान किया है जिसके फलस्वरूप हम इसे विविधता में एकता का प्रतिमान मानते हैं। संस्कृति शब्द से मानव समाज की जिन धारणाओं को ग्रहण किया जाता है, प्राचीन भारत में उन सबका विकास समन्वित रूप में हुआ था। इस

संस्कृति के विविध स्वरूप हमारे प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होते हैं। कहते हैं कि साहित्य समाज का दर्पण है। प्रत्येक देश अथवा काल एक विशिष्ट संस्कृति का संवाहक होता है जिसका प्रतिबिम्ब हमें उस-उस देश अथवा काल में रचे गए साहित्य में उपलब्ध होता है।

ऐतिहासिक क्रम से किसी देश अथवा काल को जानना ही सांस्कृतिक अध्ययन है। इस प्रकार की अध्ययन-परम्परा विदेशी विद्वानों के प्रभाव से भारत में प्रचलित हुई। लेकिन यह भी सच है कि प्राचीनकाल से ही साहित्य को सभी कलाओं, शिल्पों, विद्याओं का संगमस्थल कहा गया है-

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान्कवेः।[5]

स्वाभाविक रूप से तत्तत्कालीन लोकसिद्ध तथ्यों का संग्रह साहित्य में उपलब्ध होता है। साहित्य और कला को सस्कृति का संवाहक माना जाता है। ये दो ऐसे माध्यम हैं जिनसे किसी भी देश अथवा काल की संस्कृति का स्पष्ट चित्र प्राप्त होता है। कहा जा सकता है कि ये तद्देशीय तथा तत्कालीन संस्कृति के झरोखे होते हैं। पाणिनिकालीन भारतवर्ष (अष्टाध्यायी का सांस्कृतिक अध्ययन) में आचार्य वासुदेवशरण अग्रवाल ने पाणिनिकृत अष्टाध्यायी को एक ऐसा ही झरोखा माना है। उनके शब्दों में 'इन सूत्रों में पाणिनिकालीन भाषा के अनेक ऐसे शब्द आ गये हैं जिनसे उस युग के सांस्कृतिक जीवन का प्रत्यक्ष चित्र प्राप्त होता है।......अतएव पाणिनि का शास्त्र तत्कालीन भारतीय जीवन और संस्कृति का कोश ही बन गया है। पाणिनि ने लोक से ही शब्दों को ग्रहण कर उनकी व्युत्पत्ति प्रस्तुत की है। लोकप्रमाण के आधार पर ही आचार्य ने अपने महान् शास्त्र की रचना की। अतः तत्कालीन लौकिक संस्कृति अष्टाध्यायी में प्रत्यक्ष परिलक्षित है।'[6]

इस दृष्टि से प्राचीनसाहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिसके माध्यम से हम अपने पूर्वजों की जीवनपद्धति और विचारों को जान सकते हैं। 'सोसायटी एण्ड कल्चर इन द टाइम ऑफ दण्डिन्' नामक अपनी पुस्तक में डॉ. धर्मेन्द्रकुमार गुप्ता ने सांस्कृतिक अध्ययन को एक प्रकार का ऐतिहासिक अध्ययन ही माना है। उनके मत में इतिहास एक वर्गविशेष की जीवन्त कथा का चित्रण होता है।[7] इसमें न केवल अतीत में घटित घटनाएँ चित्रित होती हैं वरन् यह राजनीतिक, सामाजिक और अन्य विविध सांस्कृतिक तथ्यों का चित्र समुपस्थापित करता है। अतः कोई भी अध्ययन राजनीतिक पहलू के साथ ही सामाजिक और अन्य विविध सांस्कृतिक पक्षों के चित्रण के विना पूर्ण नहीं हो सकता। ये सभी पक्ष एक दूसरे के पूरक हैं। एक हमें तत्तत् काल का भौतिक ढाँचा उपलब्ध कराता है तो दूसरा इसमें जीवन का संचार करता है। सांस्कृतिक अध्ययन एक विशिष्ट काल के जनसमुदाय के विचारों, प्रवृत्तियों, व्यवहारों के माध्यम से उनके वैचारिक, भाषिक एवं क्रियात्मक जीवन की आत्मा को मानो हमारे सम्मुख खोलकर रख देता है। आज प्रचलित विविध सांस्कृतिक और सामाजिक परम्पराओं के उद्गम को जानने में यह अध्ययन हमारी सहायता करता है तथा इन मान्यताओं को सही मायने में जानकर उनकी अच्छाइयों और बुराइयों को समझने में हमें सक्षम बनाता है।

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ. धर्मेन्द्रकुमार गुप्ता सदृश आचार्यों ने इन्हीं तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में महर्षि पाणिनि, महाकविबाणभट्ट, दण्डी आदि की कृतियों में तत्कालीन संस्कृति के सूक्ष्म तत्त्वों का अन्वेषण किया है। इन तथ्यों के अगणित होने पर भी इन्हें कुछ मूलभूत वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है- 1. भौगोलिक तथ्य, 2. सामाजिक और आर्थिक जीवन, 3. राजनैतिक एवं प्राशासनिक व्यवस्था, 4. शिक्षा, साहित्य एवं कला अथवा विद्याएँ, 5. धार्मिक जीवन अथवा धार्मिक सम्प्रदाय, 6. दार्शनिक विमर्श।[8]

किसी भी रचनाकार की कृति का इन तथ्यों के प्रकाश में पर्यालोचन करने से पूर्व उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को जानना आवश्यक है। उदाहरण के लिये यदि हम किरातार्जुनीयम् का साङ्गोपाङ्ग सांस्कृतिक विवेचन करें तो पहले महाकवि की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सर्वेक्षण करना होगा। उसके उपरान्त ही महाकाव्य में उपलब्ध भूगोल को समझ पाना सम्भव होगा। एक ओर कुरुजनपद और द्वैतवन है तो दूसरी ओर इन्द्रकील पर्वत। द्वैतवन से इन्द्रकील पर्वत के मार्ग में जिन नदी, पर्वत, ग्रामों का उल्लेख महाकवि कर रहे हैं, वास्तव में उनके युग में उनकी क्या स्थिति थी और आज उनकी क्या अवस्थिति है?

सामाजिक और आर्थिक जीवन का विश्लेषण भी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को जाने विना सम्भव नहीं। डॉ. राजपुरोहित ने भारवि को समुद्रगुप्त का समकालीन मानते हुए, द्रौपदी की ओजपूर्ण वाणी में तत्कालीन साम्राज्ञी के स्वरों की छाप को स्वीकार किया है। भारवि दक्षिणभारतीय थे, और दक्षिणभारत में विकसित, शैव सम्प्रदाय का प्रभाव अर्जुन द्वारा की गई शिवस्तुति में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।[१] चतुर्थ सर्ग में गोपालों और गोपाङ्गनाओं का सजीव वर्णन तत्कालीन ग्राम्य समाज की झांकी प्रस्तुत करता है-

व्रजाजिरेष्वम्बुदनादशङ्किनीः शिखण्डिनीनामुन्मदयत्सु योषितः।
मुहुः प्रणुन्नेषु मथां विवर्तनैर्नदत्सु कुम्भेषु मृदङ्गमन्थरम्।। कि. 4.16
स मन्थरावल्गितपीवरस्तनीः परिश्रमक्लान्तविलोचनोत्पलाः।
निरीक्षितुं नोपरराम बल्लवीरभिप्रनृत्ता इव वार योषितः।। कि. 4.17

वनेचर द्वारा किये गये कुरुजनपद के वर्णन में प्राशासनिक कुशल व्यवस्था के भी दर्शन होते हैं जिसके माध्यम से प्रशासन से सम्बद्ध भारवि के विचारों का परिचय मिलता है। साम, दान, दण्ड, भेद रूप नीति को क्रमशः तीन पद्यों में वर्णित करते हैं-

निरत्ययं साम न दानवर्जितं न भूरि दानं विरहय्य सत्क्रियाम्।
प्रवर्तते तस्य विशेषशालिनो गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया।।

वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम्।।
विधाय रक्षान्परितः परेतरानशङ्किताकारमुपैति शङ्कितः।
क्रियापवर्गेष्वनुजीविसात्कृताः कृतज्ञतामस्य वदन्ति सम्पदः।।

कि. 1.12–14

जनसामान्य की आर्थिक समृद्धि का भी सुन्दर वर्णन उपलब्ध है जो कृषिप्रधान समाज की सूचना देता है–

सुखेन लभ्या दधतः कृषीवलैरकृष्टपच्या इव सस्यसम्पदः।
वितन्वति क्षेममदेवमातृकाश्चिराय तस्मिन्कुरवश्चकासति।।

कि. 1.17

धर्म और दर्शन भी प्रसङ्गतः समुल्लिखित हैं। वैदिक यज्ञविधान जैसे–

स यौवराज्ये नवयौवनोद्धतं निधाय दुःशासनमिद्धशासनः।
मखेष्वखिन्नोऽनुमतः पुरोधसा धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम्।

कि. 1.22

मानवजीवन के उद्देश्य त्रिवर्गप्राप्ति के प्रति भी कवि सजग हैं–

असक्तमाराधयतो यथायथं विभज्य भक्त्या समपक्षपातया।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान्न बाधतेऽस्य त्रिगुणः परस्परम्।।

कि. 1.11

प्रथम और द्वितीय सर्ग राजनीतिशास्त्र के ज्ञान से ओतप्रोत हैं। तृतीयसर्ग में महर्षिवेदव्यास द्वारा अर्जुन को शत्रुओं पर विजयप्राप्ति के लिये विशेष योगविद्या को प्रदान किया गया–

निर्याय विद्याथ दिनादिरम्याद् बिम्बादिवार्कस्य मुखान्महर्षेः।
पार्थाननं वह्निकणावदाता दीप्तिः स्फुरत्पद्ममिवाभिपेदे।।

कि. 3.26

पञ्चदश, षोडश एवं सप्तदश सर्गों में किरातवेशधारी शिव एवं अर्जुन के युद्धप्रसङ्ग में धनुर्विद्या एवं मल्लविद्या का सुन्दर चित्र महाकवि द्वारा समुपस्थापित किया गया है।

वाक्परिस्पन्दन का वैशिष्ट्यनिरूपण वैसे तो सम्पूर्ण काव्य में विभिन्न स्थानों पर उपलब्ध है। लेकिन विशेष रूप से किरातदूत और अर्जुन के संभाषण में अर्थगाम्भीर्य से युक्त स्वच्छ वाणी के प्रति महाकवि का विशेष आग्रह स्पष्ट परिलक्षित है-

भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये।
नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणा गभीरमर्थं कतिचित्प्रकाशताम्।।

कि. 14.14

महाकवि ने वैदिक और वैदिकेतर धार्मिक और दार्शनिक मान्यताओं का समन्वयात्मक रूप महाकाव्य में प्रस्तुत किया है। भारतीय समाज की संरचना को समझने के लिये वस्तुतः इन परम्पराओं को समझना आवश्यक है जो निगम और आगम पर आधारित हैं। निगम वैदिक-विधान हैं तो आगम प्राग्वैदिक काल से चली आ रही वैदिकेतर धार्मिक परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारतीय समाज में इन दोनों का मञ्जुल सामञ्जस्य उपलब्ध होता है जिसको अलग कर पाना लगभग असम्भव है। महाकवि भारवि की कृति भी इस परम्परा से अछूती नहीं है। किरातार्जुनीयम् के समान ही अन्य सभी संस्कृत काव्यों में तत्तत्कालीन संस्कृति के विविध पक्ष विकीर्ण हैं। आज हमारा राष्ट्र प्रगति के पथ पर अग्रसरित है लेकिन दूसरी ओर अपने मूल को जानने-समझने की जिज्ञासा भी हमारे हृदय में है जिसके लिये सांस्कृतिक दृष्टि से इन काव्यों के अध्ययन की आवश्यकता है।

---

1 संस्कृति के चार अध्याय-प्रस्तावना, पृ.-XVII

2 भारतस्य सांस्कृतिको दिग्विजयः- पृ. 9

3 संस्कृति के चार अध्याय- पण्डित जी द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ. XVII

4. वही, पृ. XIII
5 भामहकृत काव्यालङ्कार–5/14
6 पाणिनिकालीन भारतवर्ष– भूमिका, पृ. 7
7 Society and Culture in time of Dandin , preface, page-vii
8 वही– पृ.– vii
9 किरातार्जुनीयम्– 18.22-42

बृहत्त्रय्यां राजधर्मो दण्डनीतिश्च

—प्रो. रहसविहारी द्विवेदी

बृहत्त्रयीपदं प्रायो महाकाव्यत्रयेऽन्वितम्।
भारवेरथ माघस्य श्रीहर्षस्य यथाक्रमम्।।1।।

प्राक्किरातार्जुनीयाख्यं शिशुपालवधं ततः।
नैषधाख्यं तृतीयं च त्रय्यामस्यां विदुर्बुधाः।।2।।

राजत इति राजाऽऽस्ते पृथुर्वैण्यः प्रतापवान्।
आद्येवैष्णवे भागे प्रथमोऽयं प्रकीर्तितः।।3।।

'यो राजा स पिता पाता प्रजानामेव निश्चयः।'
ब्राह्मो गणपतेः खण्डे पृथुवृत्तिरुदीरिता।।4।।

मनुना कालिदासेन राजधर्मः समासतः।
प्रोक्तः- 'रक्षान्वितो राजा' 'राजा प्रकृतिरञ्जनात्'।।5।।

राज्ञोधर्मो हि तस्यास्ते कर्तव्यं कर्मयत्परम्।
शब्दकल्पद्रुमादौ तत्सङ्कलितं विलोक्यते।।6।।

दण्डयत्यथवा दाम्यत्यनेनेति घञन्वितः
दण्डः, नीतिर्हिनीयन्तेऽनयोपायादयश्च सा।
नयपदे क्तिन्संयोगे भावे नीतिर्निगद्यते।।7।।

दण्डनीतिर्विधानं तद्येन शास्ताऽपराधिनम्।
दाम्यति निश्चितैर्मानैः शासनार्थं विनिर्मितैः।।8।।

शास्त्रेविहितसिद्धान्तान् पात्राणां चरिताङ्कने।
व्यावहारिकरूपेण सूते हि सरसं कविः।।9।।

बृहत्त्रय्यां हि सत्प्राचां राज्ञां चरितमद्भुतम्।
रचितं कविभिस्तेन राजधर्मादिगान्वितिः॥10॥

बृहत्त्रयीकवीनां ये लोकोद्बोधेऽति सङ्गताः।
विचारा विश्वकल्याणं कर्तुं ते साम्प्रतं क्षमाः॥11॥

धर्माधीतिश्चबोधश्च प्राप्येते जातु केषुचित्।
तदाचारप्रचारौ तु लुप्येते हन्त! भारते॥

सङ्क्षेपेण पत्रेऽस्मिन् बृहत्त्रय्यामुदीरितम्।
राजधर्मस्य दण्डस्य नीतेश्चित्रणमङ्क्यते॥

राजधर्मस्य राजनयस्य वा निरूपणं संस्कृतभाषाया नीतिविषयकेषु ग्रन्थेषु यथाप्रसङ्गं वैदिके लौकिके च वाङ्मये बहुधा दरीदृश्यते। तेषु नीतिमयूखस्य द्वितीये प्रयोगे तद्वर्णनमेवं वरीवर्ति–

'नयस्य विनयो मूलं विनयः शास्त्रनिश्चयः।
विनयोहीन्द्रिजयस्तद्युक्तशास्त्रमिच्छति॥

आत्मानं प्रथमं राजा विनयेनोपपादयेत्।
ततोऽमात्यान् ततोभृत्याँस्ततः पुत्राँस्ततः प्रजाः॥

सदानुरक्तप्रकृतिः प्रजापालनतत्परः।
विनीतात्मा हि नृपतिः भूयसीं श्रियमश्नुते॥

एवं करणसामर्थ्यात् सन्यस्यात्मानमात्मना।
नयानयनविद्राजा कुर्वीत हितमात्मनः॥

जितेन्द्रियस्य नृपतेर्नीतिशास्त्रानुसारिणः
भवन्त्युज्ज्वलितालक्ष्म्यः कीर्तयश्चनभस्स्पृशः॥

एवमेव कालिकापुराणस्य पञ्चाशीतितमेऽध्याये सगरस्य प्रत्युत्तरे–आर्वस्य कथने राजनीतेः साधु निरूपणं प्राप्यते। औशनसूत्र–कामन्दक –पञ्चतन्त्र–नीतिमयूख–हितोपदेश–चाणक्यार्थशास्त्रस्य स्मृतिग्रन्थानां नीते

राजनीतेर्वा निरूपणं जगत्कल्याणकरं विभाति। पुराणमहाभारतरामायणादिषु यथायथं नीतेर्वर्णनमस्ति। काव्यग्रन्थेषु सत्पात्रनायकादिचरितविन्यासेषु महत्प्रेरकं नीतिवर्णनं प्राप्यते। बृहत्त्रय्यां प्राक्तनानां पुराणोक्तनायकानां वर्णनं कृतमस्ति, अतः यथाप्रसङ्गं सरसं प्रेरकं कथावस्तु सम्पृक्तं व्यावहारिकं च नीतेर्वर्णनं भारविमाघश्रीहर्षैः किरातार्जुनीयशिशुपालवधनैषधीयचरितमहाकाव्येषु व्यधायि।

प्राक्तनमहाकाव्यानां नायका भवन्तु नाम दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्या वा किन्तु ते राजान एव सन्ति। अतस्तेषां चरितविन्यासे सामान्यमानवधर्माणां राजधर्माणां वाऽन्वतिः कविभिः साध्यते। वालमीकिकालिदासाभ्यां रामायणरघुवंशयोः प्रारम्भिकेषु पद्येषु कण्ठतोऽपि नायकगुणानां वर्णनं व्यधायि। मन्ये वर्णनमिदं महाकाव्यस्य रूपरेखैवास्ति। 'आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधीजायताम्.......।' (यजुर्वेद 22.22) 'मा भ्राताभ्रातरं दिक्षम्' (अथर्ववेदे) 'सत्यं वद' 'धर्मं चर', स्वाध्यायान्मा प्रमदः', 'मातृदेवो भव' 'पितृदेवो भव'............. (तै.उ.शि.ब.) एवं वैदिकवाङ्मये व्यक्तीकृतान्मानवधर्माननुसृत्य मनुप्रभृतयो धर्मशास्त्रकारा ग्रन्थान् प्रणिन्युः। धर्मस्याधारान् प्रतिपादयन् वक्ति मनुस्मृतिः-

'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्॥'

(मनुस्मृतिः 1.12)

एते धर्मघटका यस्मिन् न सन्ति तं मनुष्यं नीतिशतके भर्तृहरिः पशुं कथयति-

'आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीना पशुभिः समानाः॥'

राजा वाऽस्तु प्रजा-एते गुणाः (धृत्यादयः) समेषां कृतेऽनिवार्याः। नायकगुणरेखाङ्कने भारतीयशास्त्रानुरूपा गुणा एव तपःस्वाध्याय निरतस्य वाग्विदां वरस्यमुनिपुङ्गवस्य नारदस्य समक्षमादिकविर्वाल्मीकिः प्रस्तौति। तद्यथा-

'कोऽन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्चवीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः।।

चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कस्यैक प्रियदर्शनः।।

आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे।'

(वा.रा.बा. 1.2-4)

एवमेव कालिदासोऽपि रघूणां वर्णनं करोति-

'सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्।।

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम्।।

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्।।

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।।

(रघुवंशे 1.5-8)

वस्तुतः साक्षात्कृतधर्मा महर्षिवाल्मीकिरादिकविरस्ति तद्वाग्द्वारेण कवने प्रवृत्तश्चमहाकविः कालिदासः कविकुलगुरुरतो भारविमाघश्रीहर्ष-प्रभृतयस्तच्छिष्यभूताः स्वकाव्यसर्जने तदनुशासनं स्वीकृत्यैव प्रवृत्ताः। फलतो वैदिकीं संस्कृतिं भारतीयानि च शास्त्राणि-आत्मसात्कृत्वा समेऽपि संस्कृतकवयः काव्यरचनामकार्षुः। तथ्यमिदं महाकावयः स्वीकुर्वन्तोऽपि दरीदृश्यन्ते। तद्यथा भवभूतिः-

'प्राचेतसो मुनिवृषा प्रथमः कवीनां
यत्पावनं रघुपतेः प्रणिनाय वृत्तम्।
भक्तस्य तत्र समरेसतमेऽपि वाचस्
तत्सुप्रसन्नमनसः कृतिनो भजन्ताम्।। (महावीर. 1.7)

भवभूतिः स्वयमपि सर्वेषां कवीनां मार्गदर्शनं कुर्वन् लिखति-

शास्त्रे प्रतिष्ठा सहजश्च बोधःप्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी।
कालानुरोधः प्रतिभानवत्वमेते गुणा कामदुधा क्रियासु।।

(मालतीमा. 3.11)

उक्तेन विवेचनेन तथ्यमिदं स्फुटी भवति यद् भारतीयशास्त्राणामनुसृतेः प्रयासा सहृदयहृदयः संवेद्यवर्णनमाध्यमेन भारतीयैः कविभिर्व्यधायि। राजशेखर प्रभृतयः काव्यशास्त्रिणः काव्यशिक्षाया दिशा स्वकाव्यशास्त्रग्रन्थान् रचयाञ्चक्रुस्तेषु शास्त्राणामार्षग्रन्थानाञ्चाभ्यासमनिवार्य मेनिरे। तद्यथा-

'श्रुतीनां साङ्गशास्त्राणामितिहासपुराणयोः।
आर्षग्रन्थः कथाभ्यासः कवित्वस्यैकमौषधम्।।

इतिहासपुराणाभ्यां चक्षुर्भ्यामेव सत्कविः।
विवेकाञ्जनशुद्धाभ्यां सूक्ष्ममप्यर्थमीक्षते।।

वेदार्थस्य निबन्धेन श्लाघ्यन्ते कवयो यथा।
स्मृतीनामितिहासस्य पुराणस्य तथा तथा।।'

(काव्यमी. 2)

तेन तथ्यमिदमनेकधां स्फुटीकृतम्- यथा- 'शास्त्रपूर्वकत्वात्काव्यानां पूर्वं शास्त्रेष्वभिनिविशेत, नह्यप्रवर्तितप्रदीपास्ते तत्त्वार्थसार्थमध्यक्षयन्ति। (काव्यमी. 2)

एवं कवयः काव्यशास्त्रिणश्च विविधशास्त्रज्ञानं कवयेऽनिवार्यं मन्वते।

बृहत्त्रयीकवयः भारविमाघश्रीहर्षाः महाकाव्यकथावस्तुविन्यासे सत्पात्रचरितविन्यासे राजधर्मदण्डनीतिशास्त्रसिद्धान्तानां प्रायोगिके स्वरूपं प्रस्तुतवन्तः क्वचित्क्वचित्कष्टतोऽपि शास्त्रकारसदृशं स्वसिद्धान्तं प्रस्तुवन्ति। तेषां कण्ठतउपात्तीकृताः सिद्धान्ताः स्थालीपुलाकन्यायेनात्र प्रस्तूयन्ते-

तत्र भारविः किरातार्जुनीये राजधर्मविषय एवं वक्ति-

'क्रियासु युक्तैर्नृप! चारचक्षुषो
न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः।' (कि.1/4)

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः॥ (तत्रैव)

'स किं सखा साधु न शास्ति
योऽधिपं हितान्न यः संशृणुते स किं प्रभुः।
सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं
नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः॥' (कि.1/5)

'समुन्नयन् भूतिमनार्यसङ्गमाद्
वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः।'
कृतारिषड्वर्गजयेन मानवी-
मगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना।
विभज्य नक्तं दिवमस्ततन्द्रिणा
वितन्यते तेन नयेन पौरुषम्॥ (1.9)

'निगूढतत्त्वं नयवर्त्म विद्विषाम्।' (1.7)
'समुन्नयन् भूतिमनार्यसङ्गमाद्
वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः॥' (1.8)

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः
समानमानात् सुहृदश्च बन्धुभिः।
न सन्ततं दर्शयते गतस्मयः
कृताधिपत्यामिव साधुबन्धुताम्॥

असक्तमाराधयतो यथायथं
विभज्य भक्त्या सम पक्षपातया।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान्
न वाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम्॥

निरत्ययं साम न दानवर्जितं
न भूरिदानं विरहय्य सत्क्रिया।
प्रवर्तते तस्य विशेषशालिनी
गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया।
वसूनि वाञ्छन्न वशीन मन्युना
स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा
निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम्॥

अनारतं तेन पदेषु लम्भिता
विभज्य सम्यग्विनियोगसत्क्रियाः
फलन्त्युपायाः परिवृहितायती-
रुपेत्य सघर्षमिवार्थ सम्पदः॥ (1.1013,15)

प्राजनां हितं कथं स्यादेतदर्थं शासकस्य प्रयासमुद्दिश्य भारविर्वक्ति-

उदारकीर्तेरुदयं दयावतः
प्रशान्त बाधं दिशतोऽनिरक्षया।
स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता
वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी॥ (1.18)

सैनिकानां प्रवृत्तिस्त्यागभावना च कीदृशी स्यादेतदर्थं स वक्ति -

महौजसो मानधना धनार्चिता
धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः।
न संहतास्तस्य न भिन्नवृत्तयः
प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम्॥ (1.19)

शास्तरि-आफलोदयकार्यसामर्थ्यं भवेदेतदर्थंतस्य गूढचरा अपि विश्वस्ता भवन्तु, अतो भारविः कथयति-

महीभृतां सच्चरितैश्चरैः क्रियाः
स वेद निः शेषमशेषितक्रियः।
महोदयैस्तस्य हितानुबन्धिभिः
प्रतीयते धातुरिवेहितं फलैः॥ (1.20)

एवमेव- 'आफलोदय कर्मणाम्' फलानुमेया प्रारम्भाः' इति

रघुवंशप्रथमसर्गे कालिदासोऽपि वक्ति।

मायाविषु जना मायिनो भवन्तु- इति भारवेर्मतम् -

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं
भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधा -
न संवृताङ्गान्निशिता इवेषवः॥ (1.30)

अवन्ध्यकोपस्य पुंसो देहिनः स्वयमेव वश्या भवन्ति -

अबन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां
भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनेन जन्तुना
न जातहार्देन न विद्विषादरः॥ (1.33)

मुनयः शमेन सिद्धिं लभन्ते न शास्तारः -

'व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः
शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः।' (1.41)

विजयैषिणो राजानश्छलेन सन्धिं दूषयन्ति, अतः सावधानेन भवितव्यम्-

'अरिषु विजयार्थिनः क्षितीशा

विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि।'

विषमोऽपि नयोऽभ्यासादिभिरुपायैर्ज्ञातव्यः -

'विषयोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः॥

(2.3)

भद्रं करी वाणी कस्यापि स्यात् सा ग्राह्या भवति -

आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता, दण्डनीतिश्च चतस्रो विद्याः - यथाह कामन्दकः -

'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती।
विद्याश्चैताश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः॥'

एतासां कार्यमपि मनुर्वदति -

'आन्वीक्षिक्यां तु विज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ।
अर्थानर्थौ तु वार्त्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ॥'

एतासां विद्यानां ज्ञाता सन्नपि कश्चित्तासां दृष्ट्या न व्यवहारं करोति तदा करिणी पङ्कमिवावसीदति -

'चतसृष्वपि ते विवेकिनी नृप! विद्यासु निरूढिमागता।
कथमेत्य मतिर्विपर्ययं करिणी पङ्कमिवावसीदति॥ (2.6)

कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयेन नयेन कोशदण्डयोः प्रभवेण भूयते तेन विधेयपदेषु दक्षता लोकेन नियतिरिवाऽनुरुध्यते -

प्रभवः खलु कोशदण्डयोः कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयो नयः।
सविधेयपदेषु दक्षतां नियतिं लोक इवानुरुध्यते॥

(2.12)

(1) कर्मणाभारम्भोपायाः (2) पुरुषद्रव्यसम्पत् (3) देशकालविभागो (4) विनिपातप्रतिकारः (5) कार्यसिद्धिश्च पञ्चाङ्गानि। यथा कामन्दको

वक्ति – 'सहाया साधनोपाया विभागो देशकालयोः विनिपातप्रतिकारः सिद्धि पञ्चाङ्ग मिष्यते।'

स्वामिमानिन आत्मबलेनैव विकासो भवति –

अभिमानवतो मनस्विनः प्रियमुच्चैः पदमारुरुक्षतः।
विनिपातनिवर्तनक्षमं मतमालम्बनमात्मपौरुषम्।।

(2.13)

पौरुषहीनाय लक्ष्मीप्राप्तिर्न भवति –

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः।
नियतालघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः।।

(2.14)

उद्योगशून्यता उन्नतेः शत्रुरस्ति –

तदलं प्रतिपक्षमुन्नतेरवलम्ब्य व्यवसायवन्ध्यताम्।
निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः।।

(2.15)

स्वावलम्बनमहत्त्वं प्रतिपादयन् वक्ति भारविः –

मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्तयते स्वयं हतैः।
लघयन् खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः।।

(2.18)

तेजस्विनोऽकर्मण्यतया शत्रुविपत्तयः प्रतिबद्धा भवन्ति –

ध्रुवमेतदवेहि विद्विषां त्वदनुत्साहहता विपत्तयः।।

(2.22)

नीतेर्महत्त्वं निभाल्यताम् –

शुचिर्भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवन्त्यलङ्क्रिया।
प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः॥

(2.32)

आगमो दीप इवार्थदर्शनं कारयति -

सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम्॥

(2.33)

दुष्टेषु काठोर्यं दयापात्रेषु मार्दवं शास्तुर्वैशिष्यं भवति -

समवृत्तिरूपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम्।
अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः॥

(2.38)

क्रोधोऽनुचितः क्षमा चोचिता (2.42,43) इति तन्मतम्। अन्तरङ्गामात्य विरोधो राजानं नाशयति -

अणुरप्युपहन्ति विग्रहः प्रभुमन्तः प्रकृतिः प्रकोपजः। (2.51) पारस्परिकेण विरोधेन शत्रुर्विजये सफलो भवति -

लघुवृत्तितया भिदां गतं वहिरन्तश्च नृपस्य मण्डलम्।
अभिभूय हरत्यनन्तरः शिथिलकूलमिवापगारयः॥

(2.53)

भारविणा किरातार्जुनीयस्य तृतीये सर्गे व्यसागमनस्य वर्णनं व्यधायि तस्य सत्क्रियाप्रसङ्गे युधिष्ठिरोक्तं वचनं न केवलं स्वागतमात्रे विश्रान्तमपितु व्यङ्ग्यभङ्ग्या व्यासस्य कर्तृत्वं सर्वेषां हितकरमिति व्यज्यते।

श्रियं विकर्षत्यपहन्त्यघानि श्रेयः परिस्नौति तनोति कीर्तिम्।
सन्दर्शनं लोकगुरोरमोघं तवात्मयोनेरिव किन्न धत्ते॥

(3.7)

सुखासक्तानुपरि जयः सुकरो भवति -

'सुखसङ्गिनं प्रति सुखावजितिः। (6.43)

गुणाः प्रेम्णि वसन्ति न वस्तुनि -

वसन्ति हि प्रेम्णिगुणा न वस्तुनि। (8.37)

यदि पीडा स्वस्य प्रिया नास्ति तदाऽन्यान् न पीडयेत् -

'यदि नेष्टात्मनः पीडा मा सञ्जि भवता जने॥

(11.29)

अन्यायमुचितं न मनुते भारवि : -

'भवान् मा स्म वधीन्न्याय्यं न्यायाधारा हि साधवः ॥

(11.30)

कविः शान्तिसन्देशं ददाति -

विजहीति रणोत्साहं मा तपः साधु नीनशः।
उच्छेदं जन्मनः कर्तुमेधि शान्तस्तपोधनः॥ (11.31)

इन्द्रियजयेनैव जयो भवति -

जीयन्तां दुर्जया देहे रिपवश्च सुरादयः।
जितेषु ननुलोकोऽयं तेषु कृत्स्नं जितस्त्वया॥ (11.33)

एकादशसर्गे काव्यशास्त्र-धर्मशास्त्र नीतिशास्त्राणां श्लेषमयं साधु वर्णनं भारविणा कृतम् 38 पद्यतः 43 पद्यं यावद्वर्णनं विशेषतोऽवलोकनीयम्। समग्रतया सम्यग्ग्रन्थाध्ययनं विना तात्पर्यप्रकाशनं नीतिज्ञानरहितमनुष्यस्य चेष्टामिव मुधा भवति -

'अविज्ञातप्रबन्धस्य वाचो वाचस्पतेरपि।
व्रजत्यफलतामेव नयद्रुह इवेहितम्॥" (11.43)

एवं समग्रेऽस्मिन् सर्गे शास्त्रमतानि समन्वितानि विलोक्यन्ते। अष्टादशसर्गे शिवस्तुतौ दार्शनिकसिद्धान्ताः स्फुटा भवति। एवं भारतीया-आस्थाऽत्र स्फुटीभवति।

उक्तेषूद्धरणेषु सुस्पष्टं भवति यत् भारविः किरातार्जुनीयस्य वस्तुविन्यासे राजधर्मस्य दण्डनीतेश्च भारतीयानां शास्त्रग्रन्थानामनुरूपं वस्तुसम्पृक्तं वर्णनं तनोति। प्रायशः प्रथमतः तृतीयं सर्गं यावत्पुनश्चैकादश सर्गे राजधर्मस्य स्पष्टतया वर्णनं प्राप्यते। अत एव क्षेमेन्द्रेण तत्समीक्षायां व्यलेखि- 'षाड्गुण्यप्रभवानीति वंशस्थेन विराजते।' भारविः दक्षिणात्यस्य चालुक्यवंशस्य राज्ञो विष्णुवर्धनस्य सभापण्डित आसीत्। अस्य समयः षष्ठशतकस्योस्योत्तरभागे सप्तमशतकस्य पूर्वभागेऽस्ति। अतः वृहत्त्रयी कविष्वयं प्रथम इति सिद्धयति।

शिशुपालवधम् -

ख्रीस्तसप्तमशतकस्य महाकविरयं माघः। अस्य पितुर्नाम दत्तकः पितामहस्य च सुप्रभदेवः। सुप्रभदेवः श्रीवर्मलस्य गुरुरासीत्। वसन्तगढनगरस्य शिलालेखेऽस्य कालः वि.स. 682 तदनुसारेण 625 ई. अङ्कितोऽस्ति। अतः तस्य पौत्रो माघः सप्तमशत्यां तदुत्तरार्द्धे भवितुमर्हति। शिशुपालवधस्य कथा श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धोत्तरार्द्धे 74 अध्याये प्राप्यते महाभारतसभापर्वपि 33 अध्यायतः 45 अध्यायं यावदस्ति। अतो मूलकथादृशा शिशुपालवधस्य कथावस्तु ततो गृहीतं प्रतीयते।

शिशुवधेऽपि पात्राणां व्यवहारे राजधर्मो दण्डनीतिश्च प्रायोगिकरूपेण विन्यस्ते दृश्यते। महाकविमाघेन सूक्तिषु क्वचिच्चार्थान्तरन्यासेषु कण्ठतोऽपि राजधर्मो दण्डनीतिश्च प्रतिपाद्येते। तद्यथा -

गृहानुपैतुं प्रणयादभीप्सवो भवन्ति नापुण्यकृतां मनीषिणः। (1. 14) गृहीतुमार्यान् परिचर्यया मुहुर्महानुभावा हि नितान्तमर्थिनः (1.17) श्रेयसि केन तृप्यते (1.29) सदाभिमानैकधना हि मानिनः (1.67) शुभेतराचारविपक्त्रिमापदो विपादनीया हि सतामसाधवः (1.73) उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता। (2.10) ज्ञातसारोऽपि खल्वेकः सन्दिग्धे

कार्यवस्तुनि (2.12) महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः। (2.13) अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्जालं वाग्मिनो वृथा (2.27) तृप्तियोगः परेणापि महिम्ना न महात्मनाम् (2.31) समूलघातमध्नन्तः परान्नोद्यन्ति मानिनः। (2.33)

विपक्षमखिलीकृत्य प्रतिष्ठा खलु दुर्लभा। (3.34)

घ्रियते यावदेकोऽपि रिपुस्तावत्कुतः सुखम्। (2.35)

उपकर्त्रारिणा सन्धिर्न मित्रेणापकारिणा। (3.37)

बद्धमूलस्य मूलं हि महद्वैरतरो स्त्रियः। (3.38)

कथाऽपि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः। (2.40)

चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रियां॥ (2.54)

सामवादाः सकोपस्य तस्य प्रत्युत दीपकाः। (2.55)

अन्यदुच्छृङ्खलं सत्त्वमन्यच्छात्रनियन्त्रितम्।

सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः॥ (2.62)

सर्वः स्वार्थं समीहते। (2.65) निर्धारितेऽर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम्। (2.70) तेजः क्षमा वानैकान्तं कालज्ञस्य महीपतेः। नैक मोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः। (2.83) मृदुव्यवहितं तेजो भोक्तुमर्थान् प्रकल्पते। (2.85) महात्मानोऽनुगृह्णन्ति भजमानान् रिपूनपि। (2.104) तीक्ष्णा नारुन्तुदा बुद्धिः कर्म शान्तं प्रतापवत्। नोपतापि मनः सोष्म वागेका वाग्मिनः सतः॥ (2.109) अनेकशः संस्तुतमप्यनल्पा नवं नवं प्रीतिरहो करोति। (3.31) क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः। (4.17) सर्वः प्रियः खलु भवत्यनुरूपचेष्टः। (5.6) सर्वे हि नोपगत मप्यपचीयमानं वर्धिष्णुमाश्रयमनागतमभ्युपैति॥ (5.14) सङ्‌र्षिणा सह गुणाभ्यधिकैर्दुरासम्॥ (5.19) आक्रान्तितो न वशमेति महान् परस्य। (5.41) नान्यस्य गन्धमपि मानभृतः सहन्ते। (5.42) नैवात्मनीयमथवा क्रियते मदान्धैः। (5.44) शास्त्रं हि निश्चितधियां क्व च सिद्धिमेति।

(5.47) मन्दोऽपि नाम न महानवगृह्यसाध्यः (5.49) समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीवशरीरिणाम्। शरदि हंसरवाः पुरुषीकृत स्वरमयूरमयूरमणीयताम्।। (6.44) परिभवोऽरिभवो हि सुदुः सहः। (6.45)

उपचितेषु परेष्वसमर्थतां व्रजति कालवशाद्बलवानपि। (6.63)

स्फुटमभिभूषयति स्त्रियस्त्रपैव।। (7.38)

भवति हि विक्लवता गुणोऽङ्गनानाम्। (7.43)

किमिव न शक्तिहरं ससाध्वसानाम्। (7.52)

शोभायै विपदि सदाश्रिता भवन्ति।। (8.55)

अस्तसमयेऽपि सतामुचितं खलूच्चतर एव पदम्।। (9.5)

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता। (9.6)

अपदोषतयैव विगुणस्य गुणः। (9.12)

क्षममस्य वाढमिदमेवहि यत्प्रियसङ्गमेष्वनवलेपमदः। (9.51)

कृतिनो भवन्ति सुहृदः सुहृदाम्। (9.57)

विदितेऽङ्गिते हि पुर एव जने सपदीरिताः खलु लगन्ति गिरः। (9.69)

दुस्त्यजः खलु सुखादपि मानः। (10.21)

न क्षमं भवति तत्त्वविचारे मत्सरेण हृतसंवृतिचेतः (10.35)

दाक्ष्यं हि सद्यः फलदम् (12.32)

प्रायेण नीचानपि मेदिनीभृतो।

जनः समेनैव पथाऽधिरोहति।। (12.46)

मदमूढबुद्धिषु विवेकिता कुतः। (13.6)

तव कर्मणैव विकसत्यसत्यता। (15.17)

प्रभुचित्तमेव जनोऽनुवर्तते। (15.41)

उपकारपरः स्वभावतः सततं सर्वजनस्य सज्जनः।
(16.22)

परितोषयिता न कश्चन स्वगतो यस्य गुणोऽस्ति देहिनः।

पर दोषकथाभिरल्पकः स्वजनं तोषयितुं किलेच्छति।।
(16.28)

शुद्धया युक्तानां वैरिवर्गस्य मध्ये भर्त्रा
क्षिप्तानामेतदेवानुरूपम्।। (19.119)

भवति स्फुटमागतो विपक्षान्न सपक्षोऽपि हि
निर्वृतेर्विधाता।। (20.29)

उपकृत्य निसर्गतः परेषामुपरोधं नहि कुर्वते महान्तः।।
(20.29)

एवं माघस्य शिशुपालवधे राजधर्मदण्डनीतिसम्बद्धविचारा कण्ठत उपात्तीकृता विद्यन्ते। यथा किरातार्जुनीयप्रथमे सर्गे तथैव शिशुपालवधस्य द्वितीयसर्गे धर्मनीतिसम्बद्धाः सूक्तयो विशेषरूपेण प्राप्यन्ते।

नैषधीयचरितम्

नैषधीयचरितकारः श्रीहर्षः श्रीहीरपण्डितान्मामल्लदेव्यां समजनीति प्रतिसर्गसमाप्ति. पद्यतः स्फुटमेव। 'ताम्बूल द्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरादिति तत्कथनेन स कान्यकुब्जेश्वरेण सम्मानित आसीदिति सिद्धयति। जैनकविराजशेखरस्य प्रबन्धकोषमाश्रित्य विद्वभिर्नैषधीयचरितस्य रचनाकालः 1163-1174 ई. स्वीकृतः। गङ्गेशोपाध्यायेन (1200ई.) श्रीहर्षस्य खण्डनखण्डखाद्यस्य खण्डनं व्यधायि। अतः श्रीहर्षस्य कालः तत्प्रागेव पुष्टिं याति। नलचरितमाश्रित्य प्रणीतमिदं महाकाव्यम्। महाभारतस्य वनपर्वणि नलोपाख्याने (58-78 अध्यायेषु) कथेयं लभ्यते। द्वाविंशसर्गैं 2830 पद्यैर्विरचितमिदं महाकाव्यम्। अस्य महाकाव्यस्य विषये विदुषामभ्युक्तिरेवमस्ति-

'तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्यनोदयः।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः॥'

नैषधीयचरितेऽपि राजधर्मो दण्डनीतिश्च क्वचित्कण्ठतः क्वचिच्च पात्रचरितविकासे दरीदृश्यते। आदौ नायकगुणवर्णने स लिखति -

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्त्रः प्रणयन्नुपाधिभिः।
चतुदर्शत्वंकृतवान् कुतः स्वयं न वेद्मिविद्यासु चतुर्दशःस्वयम्।

अमुष्यविद्यारसनाग्रनर्तकी त्रयीवनीताङ्गगुणेन विस्तरम्।
अगाहताष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्॥

दिगीश वृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स काम प्रसरावरोधिनीम्।
बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्रावतत्त्वबोधिकाम्॥

पदैश्चतुर्भिः सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना के न तपः प्रपेदिरे।
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन् दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम्॥

(1.4-7)

उक्तैः पद्यैः सुस्पष्टमेतद् यद्राजा कीदृशो भवतु कीदृशी च तत्प्रवृत्तिः। शास्त्रानुसृतिः शास्तरि भवेत्तदैव जनतायाः सुखं सम्भाव्यते। समग्रराष्ट्रस्यैक्यं गुप्तचरैश्चाभ्यन्तर वाह्यगतिविधीनां ज्ञानं राजनि स्यात्स शक्तिसम्पन्नो ज्ञानसम्पन्नश्च भवतु सर्वमेतद्वर्णनं प्रारम्भिकेषु पद्येषु कविः करोति। तद् यथा –

अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैर्निजप्रतापैर्वलयं ज्वलद्भुवः।
प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया रराज नीराजनया स राजघः।।

(1.10)

निवारितास्तेन महीतलेऽखिले निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टयः।

(1.11)

अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च।
दधौ पटीयान् समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने-दिने।।

(1.17)

स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत।
त्यजन्त्यसूञ्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम्।।

(1.50)

प्रथमसर्गान्ते नायकेन नलेन पाणिना हंसो घृतोऽत्र कविः हंसकथनमाध्यमेन विरेचनपद्धत्या (कथार्सिसमाध्यमेन) सहृदये खगेषु संवेदनशीलतां तनुते। अनुकूलायां परिस्थितौ पक्षिणः प्रयान्ति –

न वासयोग्य वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग! यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः।
इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभः खगास्तमाचुक्रुशुरारवैः खलु।
(1.128)

पुनश्च हंसस्य करुणोद्गारेषु सहृदयस्याश्रुप्रवाहः स्वभावतो भवति पद्यमेकमवलोकनीयम् –

ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वया विचित्राङ्गि! विपद्यते यदि।
तदस्मि दैवेन हतोऽपि हा हतः स्फुटं यतस्ते शिशवः परासव॥
(1.140)

अन्ततः दयार्द्रो नलो हंसममुञ्चद् -

इत्थममुं विलपन्तममुञ्चद्दीनदयालुतयाऽवनिपालः।
रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय॥
(1.143)

अत्र राजधर्मे पशुपक्षिणां यथेच्छनिवासादिप्रबन्धोऽमिमतः।

कण्ठतोऽपि तथ्यमिदं व्यनक्ति -

मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्मागम मर्मपारगैः।
स्मरसुन्दर! मां यदत्यजस्तव धर्मः स दयोदयोज्ज्वलः॥
(2.9)

धर्माचरणस्य महत्त्वं न तु कथनस्य -

ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम्।
(2.48)

मनसाऽवलोकनं वरं न तु चक्षुर्भ्याम् -

अखिलं विदुषामनाविलं सुहृदा च स्वहृदा च पश्यताम्।
सविधेऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्र साक्षिणी॥

(2.55)

परोपकारित्वं स्वत एव भवेदिति कवेर्मतम् -

स्वत एव सतां परार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता॥
(2.61)

राजा निजेन-ओजसा प्राथम्यं भजते शब्दशास्त्रस्य प्रथमा विभक्तिरिव-

क्रियते चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमा विधेया।
या स्वौजसा साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमा नाम पदं बहुस्यात्॥

(3.23)

राष्ट्रे स्थितानामकिञ्चनानां साहाय्यं राज्ञो धर्मः -

दारिद्र्यदारिद्र- विणौघवर्षैरमोघमेघ- व्रतमर्थिसार्थे।
सन्तुष्टमिष्टानि तमिष्टदेवं नाथन्ति के नाम न लोकनाथम्॥

(3.25)

शास्तुः शास्त्रज्ञानं सर्वाधिकं भवत्विति वाञ्छति श्रीहर्षोऽतो मुहुर्मुहुस्तथ्यमिदं व्यक्तीकरोति -

रेखाभिरास्ये गणनादिवास्य द्वात्रिंशता दनतमयीभिरन्तः।

चतुर्दशाष्टादश चात्र विद्या द्वेधाऽपि सन्तीति शशंस वेधाः।

(3.35)

गभीरे हृदि सज्जनः स्वोद्देश्यं प्रस्तौति -

ह्रदेगभीरे हृदि चावगाढे शंसन्ति कार्यावतरं हि सन्तः।

(3.53)

वैदिकवाङ्मयसम्पृक्ता वाणी सत्यपथाच्च्युता न भवति -

मध्ये श्रुतीनां प्रतिवेशिनीनां सरस्वती वासवती मुखे नः।
ह्रियेव ताभ्यश्चलतीयमद्धापथान्न संसर्गगुणेन बद्धा॥

(3.65)

अव्यभिचारिवाक्यत्वमेव वेदत्वम् -

अशक्यशङ्का व्यभिचारहेतुर्वाणी
न वेदा यदि सन्तु के तु॥ (3.78)

शीघ्रग्राहिणी प्रज्ञा गुरूपदेशं न प्रतीक्षते -

अलं विलम्ब्यत्वरितुं हि वेला
कार्ये किल स्थैर्यसहे विचारः।

गुरूपदेशं प्रतिभेव तीक्ष्णा
प्रतीक्षते जातु न कालमार्तिः॥ (3.91)

क्रुद्धं जनं दृष्ट्वा तं प्रति निवेदनं न समीचीनमिति सिद्धान्तप्रतिपादने श्रीहर्षो व्यङ्ग्यभङ्ग्या स्वकाव्यप्रस्तुति विषयेऽपि स्वंभावं प्रकटयति -

विज्ञापनीया न गिरो मदर्थाः क्रुधा कदुष्णे हृदि नैषधस्य।

पित्तेन दूने रसने सिताऽपि तिक्तायते हंसकुलावतंस॥
(3.94)

यद्यपि श्रीहर्षः प्रायः पाञ्चलीरीतेः कविरथवा राजशेखरदिशा शास्त्रकविस्तथापि व्यङ्ग्यभङ्ग्या वैदर्भीरीतिसमन्वितं स्वकाव्यं प्रतिपादयन्नस्याः प्रशंसां करोति -

धन्याऽसि वैदर्भि! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत
नैषधोऽपि॥ (3.116)

कुटिलेष्वार्जवं नोचितमिति कविर्वक्ति -

आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः। (5.103)

केनापि कार्येण प्रस्थानकाले 'सफलो भवामीति परिकल्प्य गमनं विधेयम्' लोके प्रसिद्धमेतन्पद्यम् -

वैन्यं पृधुं हैहयमर्जुनं च शाकुन्तलेयं भरतं नलञ्च।
एतान्नृपान् यः स्मरति प्रयाणे तस्यार्थसिद्धिः पुनरागमश्च॥

तथ्यमिदं स्मारयन् कविर्लिखति -

'स्वगमनाफलतां यदि शङ्कसे तदफलं निखिलं खलु
मङ्गलम्॥ (5.134)

अनौचित्ये सज्जनः स्वयं लज्जितो भवति –

'स्वतः सतां ह्रीः परतोऽपि गुर्वी।' (6.22)

श्रीहर्षस्य नायिका दमयन्ती देवलोकाद् भारतवर्षं श्रेष्ठं मनुते –

वर्षेषु यद्भारतमार्यधुर्याः स्तुवन्ति गार्हस्थमिवाश्रमेषु।
तत्रास्मि पत्युर्वरिवस्ययाहं शर्मोर्मिकिर्मीरितधर्मलिप्सुः॥
(6.97)

मनुरपि गृहस्थधर्ममहत्त्वं प्रतिपादयति –

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्ते न चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माच्छ्रेष्ठतमो गृही॥ (3.77-78)

पुनरपि पुष्णाति कविभूमेर्महत्त्वम् –

स्वर्गे सतां शर्म परं न धर्मा भवन्ति भूमाविह तच्च ते च।
इष्ट्याऽपि तुष्टिः सुकरः सुराणां कथं विहाय त्रयमेकमीहे॥
(6.98)

दमयन्त्याः कथने पातिव्रतधर्मस्य दृढीयसी निष्ठा कविना व्यक्ती कृत यत्र देवानवमत्य स्वसङ्कल्पितं वरं नलमेव सा वाञ्छति। पद्यमेकमवलोकनीयम् –इन्द्रदूतीं प्रति सा वक्ति–

भूयोऽर्थमेनं यदि मां त्वमात्थ तदा पदावालभसे मघोनः।

सतीव्रतैस्तीव्रमिमं तु मन्तुमतः परं वज्रिणि मार्जिताऽस्मि॥
(6.110)

यद्यपि सप्तमसर्गे दमयन्त्या नखशिखवर्णनमेव कविः तनुतेऽत्र न काचित्धर्मशास्त्रानुसृतिर्विलोक्यते किन्तु कीदृश्यः स्वस्था युवत्य आसन्तथाऽद्यापि भवन्त्विति प्रेरणा तु लभ्यत एव।

अतिथिसत्कारस्य स्वरूपं कविरयं प्रतिपादयति -

नत्वा शिरो रत्नरुचाऽपि पाद्यं
सम्पाद्यमाचारविदातिथिभ्यः।
प्रियाक्षरालीरसधारयाऽपि
वैधी विधेया मधुपर्कतृप्तिः॥

स्वात्माऽपि शीलेन तृणं विधेयं
देया विहायासनभूर्निजाऽपि।
आनन्दवाष्पैरभिकल्प्यमम्भः
पृच्छा विधेया मधुभिर्वचोभिः॥

पदोपहारेऽनुप नम्रताऽपि
सम्भाव्यतेऽपां त्वरया पराधः।
तत्कर्तुमर्हाञ्जलिसञ्जनेन
स्वसम्भृति प्राञ्जलतापि तावत्॥ (8.20-22)

'भवतां किं नाम' इत्यत्र - अतिथिनामज्ञातुं प्रस्तावः कीदृशः स्यादिति प्रतिपादयति कविः -

अनायि देशः कतमस्त्वयाऽद्य वसन्तमुक्तस्य दशां वनस्य।
त्वदाप्तसङ्केततया कृतार्था श्रव्याऽपि नानेनजनेन संज्ञा॥
(8.25)

कथयन्तु नाम वक्तारं जना चारणं किन्तु गुणस्य प्रशंसा तु कार्या एव -

वाग्मजन्म वैफल्यमसह्यशल्यं गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत्।
खल्वत्वमल्पीयसि जल्पितेऽपि तदस्तु बन्दिभ्रमभूमितैव॥
(9.32)

यथा कुमारसम्भवस्य पञ्चमसर्गे कालिदासेनोक्तम् -

'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः'

तथैव श्रीहर्षोऽपि नलस्वभावं वर्णयन् .लिखति -

अथ स्मराज्ञामवधीर्य धैर्यादूचे स तद्वागुपवीणितोऽपि।
विवेकधाराशतधौतमन्तः सतां न कामः कलुषी करोति॥
(9.54)

श्रीहर्षः संक्षिप्तकथनं श्रेयस्करं मनुते -

मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता। (9.8)

आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।

श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्जेष्ठापत्यकलत्रयोः' एषा परस्परा। यद्यपि काव्येऽस्मिन् दूतरूपो नलः स्वनाम न प्रकाशितुं वाञ्छति तथापि भारतीयाचारस्तु सङ्गत एवात्र -

महाजनाचारपरम्परेयमीदृशी स्वनाम नामाददते न साधवः।
अतोऽभिधातुं न तदुत्सहे पुनर्जनः किलाचार मुचं विगायति॥
(9.13)

अत्र दमयन्तीमुखेन कविः कुलजानां नारीणां धर्मं प्रतिपादयति -

ममापि देयं प्रतिवाचिकं न ते
स्वनाम मत्कर्णसुधामकुर्वते।
परेण पुंसा हि ममापि सङ्कथा
कुलाबलाचारसहा सनासहा॥ (9.16)

सतीमर्यादास्थितिमाधृत्य वदति -

मृणालतन्तुच्छिदुरा सतीस्थिति-
र्लवादपि त्रुट्यति चापलात् किल॥ (9.31)

धर्मसम्मताचारश्चेद् विपत्तौ न रक्षको भवति तदा निषिद्धाचरणमपि कदाचिदुचितं भवति -

निषिद्धमप्याचरणीयमापदि
क्रिया सती नावति यत्र सर्वथा।
घनाम्बुना राजपथेऽतिपिच्छिले
क्वचिद्बुधैरप्यपथेन गम्यते॥ (9.36)

दमयन्तीमाध्यमेन कविः सूत्रभाष्ययोः सामञ्जस्यं प्रतिपादयति -

स्त्रिया मया वाग्मिषु तेषु शक्यते
न जातु सम्यग्विवरीतुमुत्तरम्।
तदत्र मद्भाषितसूत्रपद्धतौ
प्रबन्धृतास्तु प्रतिबन्धृता न ते॥ (9.37)

प्रथमं लघुशत्रूणां नाशो विधेयस्ततः प्रबलानाम्-

लघौ लघावेव पुरः परे
बुधैर्विधेयमुत्तजनमात्मतेजसः।
तृणे तृणेढि ज्वलनः खलु ज्वलत्
क्रमात्करीषद्रुमकाण्डमण्डलम्। (9.152)

ब्रह्मा दमयन्त्याः स्वयंवर समारोहे न गतवान् यतोहि पितामहेन सह विवाहो धर्मशास्त्रविरुद्धः -

ययौ विमृश्योर्ध्वदिशः पतिर्न
स्वयंवरं वीक्षितधर्मशास्त्रः।
व्यलोकि लोके श्रुतिषु स्मृतौ
वा समं विवाहः क्व पितामहेन॥ (10.16)

एका भाषा राष्ट्रस्थितानां समेषां कृतेऽवबोधदिशा समुचिता भवति श्रीहर्षः स्वयंवरेऽन्योन्यवाग्व्यवहारवर्णने तथ्यमिदं स्फुटी करोति -

अन्योऽन्यभाषामवबोधभीतेः
संस्कृत्रिमाभिर्व्यवहारवत्सुः।
दिग्भ्यः समेतेषु नरेषु वाग्भिः
सौवर्गवर्गो न नरैरचिह्नि॥ (10.34)

श्रेष्ठं साधारणमुक्त्वा हीनः स्वमहत्त्वं स्थापयति -

आत्मापकर्षः किल मत्सराणां
द्विषः परस्पर्द्धनया समाधिः॥ 10.43

तथा च -

गुणेन केनापि जनेऽनवद्ये
दोषान्तरोक्तिः खलु तत्खलत्वम्। 10.44

स्त्रीरत्नलाभे मग्नाय न किञ्चिदवभासते -

स्त्रीरत्नलाभोचितयत्रमग्नमेनं
न हि स्म प्रतिभाति किञ्चित्। 10.49

कः स्पर्धितुः स्वाभिहितस्वहानेः
स्थानेऽवहेलां बहुलांनकुर्यात्। 10.50

वाल्मीकेः प्रशस्तौ वक्ति -

वाल्मीकिरश्लाघत तामनेक-
शाखात्रयीभूरुहराजिभाजा।
क्लेशं विना कण्ठपथेन यस्य
दैवीदिवः प्राग्भुवमागमद्वाक्॥ 10.57

शुक्रं दैतेयनीतेः पथि सार्थवाहं वक्ति कविः -

'दैतेयनीतेः पथि सार्थवाहः'। 10.59

अत्र शुक्रनीतिं स्मारयति महाकविः श्रीहर्षः। स्वतः प्रकाशे परमात्मबोधे बोधान्तरं नापेक्षते -

स्वतः प्रकाशे परमात्मबोधे
बोधान्तरं न स्फुरणार्थमर्थ्यम्॥ 10.63

कस्मिन्नपि वर्णने शास्त्रानुसारि कथनं साधु भवति -

जगत्त्रयी पण्डितमण्डितैषा
समानभूता न च भाविनी च।
राज्ञां गुणज्ञापनकैतवेन
सङ्ख्यावतः श्रावय वाङ्मुखानि। 10.72

दशमसर्गे 74 तः 88 पद्यं यावत्सरस्वत्या यद्वर्णनं श्रीहर्षेण व्यधायि तत्र समस्तमेव संस्कृतवाङ्मयमारेखितम्। तत्र प्रथमं पद्यमेवमस्ति-

मध्ये समं साऽवतार बाला गन्धर्वविद्यामयकण्ठनाला।
त्रयीमयीभूतवलीविभङ्गा साहित्यनिर्वर्तितदिक्तरङ्गा॥
10.74

वस्तुतः सरस्वती काव्येऽस्मिन् सर्ववेदशास्त्रादिज्ञानरूपाऽत्र महाकविना वर्णिता। अत्र संस्कृतवाङ्मयं तदङ्गेषु स्थितं चित्रितम्। श्रीहर्षो विविध शास्त्राणां महान् ज्ञाता व्याकरणमपि हस्तामलकवदस्ति। अत इन्द्रस्य नलरूपधारणेऽनौचित्यं प्रतिपादयति वैयाकरणत्वादिन्द्रेण स्वशास्त्र सिद्धान्तो नामानीत्याक्षेपं करोति। विशिष्टं विवरणं टीकासु प्रतिपदितमेव। पद्यमेवं वरीवर्ति-

स्वंनैषधादेशमहो विधाय कार्यस्य हेतोरपि नानलः सन्।
किं स्थानिवद्भावमधत्तदुष्टं तादृक्कृतव्याकरणः पुनः सः॥
10.136

श्रेष्ठोभृत्य आदेशं विना स्वामिनो मनोभावं अनुमाय तथा कार्यं करोति -

'अन्यानपेक्षितविधौ न खलु प्रधान-
वाचं भवत्यवसरः सति भव्यभृत्ये। 11.34

भाग्ये विरुद्धे सति पौरुषं न फलवद्भवति -

दैवे विरुन्धति निबन्धनतां वहन्ति
हन्त! प्रयासपरुषाणि न पौरुषाणि॥ 11.55

बुद्धिमते सङ्केतमात्रं पर्याप्तं भवति -

'सुज्ञं प्रतीङ्गितविभावनमेववाचः। 11.101

तरस्वी (शूरः) चतुरं मेधावन्तं प्रीणाति, अतः पराजितो न भवति-

नैवाल्पमेधसि पटो रुचिमत्त्वमस्य
मध्ये समिन्निवसतो रिपवस्तृणानि।
उत्थानवानिह पराभवितुं तरस्वी
शक्यः पुनर्भवति केन विरोधिनाऽयम्॥ (13.12)

कविः श्लेषेण व्यङ्ग्यभङ्ग्या च राज्ञो जयशालितां वर्णयनि -

अत्याजिलब्धविजय प्रसवस्त्वया
किं विज्ञायते रुचिपदं न महो महेन्द्रः
प्रत्यर्थिदानवशताऽऽहितचेष्टयाऽसौ
जीमूतवाहनधियं न करोति कस्य? (13.27)

आश्रमवर्णचारपरिपालनं राज्ञो धर्मः, नलवर्णनमाध्यमेन कविर्वक्ति-

वर्णश्रमाचारपथात् प्रजाभिः
स्वाभिः सहैवास्खलते नलाय।
प्रसेदुषो वेदृशवृत्तभङ्ग्या
दित्सैव कीर्त्तेर्भुवमानयद् वः॥ 14.42

भारतीयायां परम्परायां गोत्रप्रवरदिशा विचार्य विवाहः क्रियते तत्सङ्केतं कविः करोति -

गोत्रानुकूल्यप्रभवे विवाहे तत्प्रातिकूल्यादिव गोत्रशत्रुः।
पुरश्चकार प्रभवं वरं यमायन् सखायं तदृशे तया
सः॥ (14.59)

एकाधिकस्त्री सम्पर्कं धर्मशास्त्रं न समर्थयति। तदर्थमाह श्रीहर्षः-

सहद्वितीयः स्त्रियमभ्युपेयादेवं स दुर्बुध्य नयोपदेशम्।
अन्यां सभार्यः कथमृच्छतीति जलाधियोऽभूदसहाय एव॥
14.65

विपत्तावपि राजा स्वधर्मं न त्यजत्विति वक्ति -

कृच्छं गतस्यापि दशविपाकं धर्मान्न चेतः स्खलतात्तवेदम्।
अमुञ्चतः पुण्यमनन्यभक्तेः स्वहस्तवास्तव्य इव त्रिवर्गः॥
14.78

मरुस्थले जलोपलब्धिर्जनतायै स्यात् -

यत्राभिलाषस्तव तत्र देशे नन्वस्तु धन्वन्यपि तूर्णमर्णः।
आपो वहन्तीह हिलोकयात्रा यथा न भूतानि तथा पराणि॥
14.80

याचनां विना स्वल्पमप्युलब्धं वरं भवति -

अर्थो विनैवार्थनयोपसीदन्नल्पोऽपि धीरैरवधीरणीयः।
14.84

भारतीयायां संस्कृतौ राजा वाऽस्तु जनता सर्वे मन्त्रादिमाध्यमेन स्वकार्यं साधयन्ति। श्रीहर्षविषये प्रसिद्धिरस्ति यत् स चिन्तामणिमन्त्रप्रभावेणैव महान् कविर्विद्वान् च सज्जातः। सहृदयानामवधारणाऽस्ते यदयमेव चिन्तामणिमन्त्रः -

आवामा वामार्द्धे सकलमुभयाकारघटनाद्
द्विधाभूतं रूपे भगवदभिधेयं भवति यत्।
तदन्तर्मन्त्रं मे स्मरहरमयं सेन्दुममलं
निराकारं शश्वज्जप नरपते! सिध्यतु स ते॥ 14.85

अत्र मन्त्रफलमपि 86-87 पद्ययोर्द्रष्टव्यम् अदोषेऽपि दोषारोपणं सज्जनस्यादोषतामेव विवृण्वते-

अदोषतामेव सतां विवृण्वते
द्विषां मृषादोषकणाधिरोपणाः।
न जातु सत्ये सति दूषणे भवे
दलीकमाधातुमवद्यमुद्यमः।। 15.4

लोकरीतयो धर्मशास्त्रनियमाश्च श्रीहर्षाय रोचन्ते -

सृजन्तु पाणिग्रहमङ्गलोचिता
मृगीदृशः स्त्री सभयस्पृशः क्रियाः।
श्रुतिस्मृतीनां तु वयं विदध्महे
विधीनिति स्माह च निर्ययौ च सः।। 15.7

शुभे मुहर्ते विवाहदिकार्यक्रमाः सन्त्विति स वाञ्छति द्रष्टव्यम्- 15.8।

षोडशसर्गस्य विवाहविधाने वैज्ञानिकानि तथ्यानि समुद्घाटितानि वर्तन्ते। सप्तदशसर्गे अनेके धर्मशास्त्रीया नीतिशास्त्रीया दार्शनिकाश्च सिद्धान्ताः कविना वस्तुसम्पृक्ते वर्णने अभिव्यञ्जिताः विशेषतः 28 पद्यतः समाप्तिं यावत्सर्गोऽयमवलोकनीयः। अष्टादशे सर्गे संयोगश्रृङ्गारवर्णनं कविना कृतम्। एकोनविंशसर्गे प्रकृतिचित्रणं साधु विभाति। विंशसर्गे नलदमयन्त्योर्दाम्पत्य चित्रणमस्ति। एकविंशे सर्गे राज्ञो नित्यक्रियाया प्राणायामादिसम्बद्धं वर्णनमादौ कृतमस्ति। अत्र विधौ प्रयुक्तायाः सामग्रेस्तथा मनोदशाया अपि निरूपणं करोति कविः। यथा कुशस्य वर्णनम् -

मूलमध्यशिखरस्थितवेधः शौरि
शम्भुकरकाङ्घ्रिशिरःस्थैः।
तस्य मूर्ध्नि चकरे शुचि
दर्भैर्वारिवान्तमिव गाङ्गतरङ्गैः।। 21.12

पूजनादिधर्मकृत्य समये प्रत्यर्थिभूतं पत्न्यादिस्मरणं नोचितमतः कविरुत्प्रेक्षालङ्कारमाध्यमेन नलस्य दमयन्तीं प्रति हार्दिकं नियन्त्रणं वर्णयति-

भीमजामनुचलत्यनुबेलं संयिसुरिवराजऋषीन्द्रः।
प्राववार हृदयं स समन्तादुत्तरीयपरिवेषमिषेण॥ 21.15

नित्यविधानेषु सन्ध्यादिप्रसङ्गे सूर्याराधनगायत्री जपादिकं श्रीहर्षोऽनिवार्यमकरणे प्रत्यवायसाधनं मत्वा वर्णयति -

सम्यगस्य जपतः श्रुतिमन्त्राः सन्निधानमभजन्त कराब्जे।
शुद्धबीजविशदस्फुटवर्णाः स्फाटिकाक्षवलयच्छलभाजः॥
21.18

अस्मिन् सर्गे सूर्याराधनदेवपूजादिकस्य विस्तृतं वर्णनं राज्ञो धर्मरूपेण साधु वर्णितं कविना। अत्र दशावताराणां वर्णनमपि पूजनवर्णनमाध्यमेन एकोनविंशपद्यतः शतपद्यं यावद् विलोक्यते। भगवन्नाममहत्त्वाधायकं पद्यमेव निभाल्यताम् -

मृत्युहेतुषु न वज्रनिपातात्
भीतिमर्हति जनस्त्वयि भक्तः।
यत्तदोच्चरति वैष्णवकण्ठा-
न्निष्प्रयन्तमपि नाम तव द्राक्॥ 21.96

140 पद्यतः 146 पद्यं यावत् मधुरभाषणसिद्धान्तं प्रतिपादयन्निव दृश्यते कविः। काव्यशास्त्रिभिर्द्राक्षापाकादिनिरूपणं कृतमस्ति। दमयन्ती वाग्वर्णनमाध्यमेन मन्ये कविः स्वकीयमेव वाग्वैशिष्ट्यं प्रतिपादयति। पद्यमेकमवलोकनीयम् -

त्वद्वाचः स्तुतये वयं न पटवःपीयूषमेवस्तुम-
स्तस्यार्थे गरुणामरेन्द्रसमरः स्थाने स जानेऽजनि।
द्राक्षापानकमानमर्दनसृजा क्षीरेदृढावज्ञया
यस्मिन्नामधृतोऽनया निजपदप्रक्षालनानुग्रहः॥ 21.146

न केवलं राज्ञो सन्ध्योपसनादिवर्णनं व्यधायि कविनाऽपितु राज्ञीसन्ध्योपासनवर्णनं तनुते- द्र. 21 148

एतेन राजनि नित्यनैमित्तिकं भारतीयं विधानमपेक्षते कविः।

श्रीहर्षः सूर्यं सर्वेषां नियामकमिति व्यङ्ग्यभङ्ग्या प्रतिपादयति यथा शास्ता दण्डमाध्यमेन सुन्दरं प्रशासनं विदधाति तथा सूर्योऽपि स्वगत्याऽऽचरणेन वा सन्यासिवत् समान् जनान् प्रेरयति –

आदाय दण्डं सकलासु दिक्षु
योऽयं परिभ्रामति भानुभिक्षुः।
अब्धौ निमज्जन्निव तापसोऽयं
सन्ध्याभ्रकाषायमधत्त सायम्।। (22.21)

'असतो मा सद् गमय' इति श्रुतिः। तमोपनयनं सर्वात्मनाऽऽवश्यकं भवति। अतो वैशेषिकमतं कवये रोचते –

ध्वान्तस्य वामोरु! विचारणायां वैशेषिकं चारुमतं मतं मे।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय।।
22.35

विरोधिनो राजानो गुप्तचरमाध्यमेन शत्रूणां योजनामवगच्छन्ति तथ्यमिदं कविर्व्यज्यते –

दिने मम द्वेषिणि कीदृगेषां प्रचार इत्याकलनाय चारीः।
छाया विधाय प्रतिवस्तुलग्नाः प्रावेशत्प्रष्टुमिवान्धकारः।।
22.38

महाकविना कालिदासेन रघुवंशे कौत्सं प्रति रघुकथने 'तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिरिति व्यलेखि। श्रीहर्षोऽपि मृगविषयकस्नेहवर्णनं व्यङ्ग्यमाध्यमेन करोति –

अस्मिच्छिशौ न स्थित एव
रङ्कु-र्यूनि प्रियाभिर्विहितोपदाऽयम्।
आरण्यसन्देश एवौषधीभिरङ्के
स शङ्के विधुना न्यधायि।। 22.76

क्वचिल्लोकः शास्त्रमतिशेते। अतो भाषाविधाने लोकस्य जेतृत्वं पुष्णाति –

भङ्क्तुं प्रभुर्व्याकरणस्यदर्प
पदप्रयोगाध्वनिलोक एषः।
शशो यदस्यास्ति शशी ततोऽय-
मेवं मृगोऽस्यास्ति मृगीति नोक्तः॥ 22.82

सम्प्रति लोके विशेष्यविशेषणयोः समानलिङ्गत्वनियमो व्याकरणदिशा न स्वीक्रियते – यथा राष्ट्रपतिः प्रतिभा पाटिलः, मुख्यमन्त्री मायावतीत्येवम्।

वस्तुतः राजा लोकपालो भवति। अतः नलस्य लोकपालं व्यञ्जनया वक्रोक्त्या श्लेषेण वा वर्णयति महाकविः श्रीहर्षः। नेदं नैषधीयचरितं शास्त्रग्रन्थो लोकोत्तराह्लादेन सह सहृदयेषु शास्त्रोचिताचारनिवेशने कविरयं दक्षः। कविशक्ते र्विलासभूतेसरस्वतीकथने स्वकाव्यविधानं वर्णयन्निव सोऽनुमीयते –

सा भङ्गिरस्याः खलु वाचि-
कापि यद्भारती मूर्तिमतीयमेव।
श्लिष्टं निगाद्यादृतवासवा-
दीन्विशिष्य मे नैषधमप्यवादीत्।

जग्रन्थ सेयं मदनुग्रहेण
वचः स्त्रजः स्पष्टयितुं चतस्त्रः।
द्वे ते नलं लक्षयितुं क्षमेते
ममेव मोहोऽयमहो महीयान्॥

श्लिष्यन्ति वाचो यदमूरमुष्याः
कवित्वशक्ते खलु ते विलासाः।
भूपाललीला किललोकपालाः
समाविशन्ति व्यतिमेदिनोऽपि॥ (14.14.-16)

कलुषहारि सहृदयहर्षकारि काव्यसर्जनं कविना व्यधायि-

भवद्वृत्तस्तोतुर्मदुपहितकण्ठस्य कवितु
र्मुखात्पुण्यैः श्लोकैस्त्वयि घनमुदेयं जनमुदे।
ततः पुण्यश्लोकः क्षितिभुवनलोकस्य भविता
भवानाख्यातः सन् कलिकलुषहारी हरिरिव।। 14.92

। इतिशम् ।

बृहत्त्रय्यां दूतगुप्तचरव्यवस्थाया विशेषसन्दर्भाः

–डॉ. रमाकान्तपाण्डेयः

संस्कृतसाहित्ये महाकविभारविप्रणीतं किरातार्जुनीयं माघप्रणीतं शिशुपालवधं श्रीहर्षप्रणीतं नैषधीयचरितं चेति त्रीणि महाकाव्यानि बृहत्त्रयीनाम्ना प्रथितानि। त्रयोऽप्येते महाकवयः संस्कृतसाहित्ये त्रिदेववत्पूज्यन्ते। अपूर्वैव ह्येषां प्रतिभा अलौकिकी च विषयनिरूपणपद्धतिः। यद्यपि दूतचरादिव्यवस्थायाः प्रतिपादनं राजनीतिशास्त्रस्य विषयस्तथापि प्रसङ्गानुरोधेन राजशास्त्रानुसारेण बृहत्त्रय्यामपि तत्सम्बन्धिविषयो वर्णित एवेति बृहत्त्रय्यान्तर्वर्तिदूतचरादिविषयकसन्दर्भाणां परिज्ञानाय राजनीतिशास्त्रप्रतिपादितदूतचरादिव्यवस्थाविषयोऽत्रादौ संक्षेपेण प्रस्तूयते।

भारते राजनीतिशास्त्रस्य परम्परा वैदिककालादेव दृष्टिपथमायाति। ऋगादिवेदेषु सोऽयं विषयो बहुत्र व्याख्यातो दृश्यते।[1] अथर्ववेदे तु राष्ट्रराजादिविषयका विचारा नैकत्र प्राधान्येन व्याख्याताः सन्त्येव।[2] वस्तुतो राष्ट्रस्य रक्षार्थं यथा नृपस्य आवश्यकता भवति तथैव प्रजायाः सम्यक् परिपालनाय राष्ट्रस्य च सर्वविधवृत्तान्तपरिज्ञानाय राज्ञः कृते दूतगुप्तचरादीनामावश्यकता भवत्येव। अत इयं दूतगुप्तचरव्यवस्था राष्ट्रसंकल्पनासमनन्तरमेव समुदभूदिति निश्चप्रचम्। दूतः सन्देशादिप्रापणेन राज्ञो राज्यपालने साहाय्यं विदधातीति 'स्यात् सन्देशहरो दूत' इत्यमरवचनादपि ज्ञायते। गुप्तचरोऽपि दूतविशेष एव भवति। कार्यभेदादेव दूतगुप्तचरयोः कश्चन भेदः परिकल्प्यते।

दूतशब्दोऽयं न कश्चिन्नूतनः साम्प्रतिको वा शब्दः। शब्दस्यास्य प्रयोगस्तु वेदेष्वनेकत्र लभ्यते। यथा– 'दूतेव हि ष्ठो यशसा जनेषु'[3] सन्देशप्रापणमेव दूतस्य प्रमुखं कर्म भवतीति राजशास्त्रेयं राज्ञो मुखं

कल्पितः। तथा चाह कौटिल्यः 'दूतमुखा वै राजानः'[4]। चरस्तु राज्यसम्बन्धिनीः घटना दृष्ट्वा राज्ञे सूचयतीति राजशास्त्रे नरेन्द्रः 'चारचक्षुः'[5] कथितः। सुप्तेऽपि राजनि दूताश्चराश्च स्वनियोगं साधयन्तीति कामन्दकीये नीतिशास्त्रेऽपि महीपतिः 'चारचक्षुः' कथितः।[6]

महाभारते रामायणे[7] कौटिल्यादिप्रणीतराजशास्त्रग्रन्थेषु दूतानां गुणा भेदाश्च सन्ति निर्धारिताः। तथा चाह मनुः-

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम्।।

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित्।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते।।[8]

कामन्दकीये नीतिसारे केचन अन्येऽपि दूतगुणा उक्ताः सन्ति-

प्रगल्भः स्मृतिमान् वाग्मी शस्त्रे शास्त्रे च निष्ठितः।
अभ्यस्तकर्मा नृपतेर्दूतो भवितुमर्हति।
तर्केङ्गितज्ञः स्मृतिमान् मृदुर्लघुपरिक्रमः।
क्लेशायाससहो दक्षश्चरः स्यात् प्रतिपत्तिमान्।।[9]

प्रगल्भः=जितसभः, स शत्रुपरिषदि गतसाध्वसो वक्ति। स्मृतिमान्= स्वामिसन्दिष्टं न विस्मरतीति। वाग्मी=प्रशस्तवाक्, स्ववचनैः सभां रञ्जयति। शास्त्रे शस्त्रे च पारङ्गतः। अभ्यस्तकर्मा शास्त्रप्रतिपादितं कर्माप्यभ्यस्तं येन तादृशो नृपतेर्दूतो भवितुमर्हतीति। तर्क ऊहः प्रज्ञागुणो येन अनुक्तमप्युह्यते।

इङ्गितमन्यथावृत्तिः, पूर्वं प्रवृत्तायाः क्रियाया अन्यथात्वम्। इङ्गितमाकारस्याप्युपलक्षणार्थं, तज्जानातीति, स्मृतिमान्=अविस्मरणशीलः। मृदुः अनिष्ठुरवचनः। लघुपरिक्रमः=शीघ्रगतिः। क्लेशायससहः=क्षुत्तृष्णादिकृत-क्लेशान् तत्कृतायासां च सहते। दक्षः कुशलः शीघ्रकारी च। चारो गूढपुरुषः स्यात्, प्रतिपत्तिमान्=उत्पन्नप्रतिभः अनालोचितोत्तरदानकुशल इत्यर्थः।

कौटिलीयार्थशास्त्रे तु दूतचरविषये चत्वारोऽध्याया लभ्यन्ते। तत्र दूतस्त्रिविधः प्रतिपादितः-

"निसृष्टार्थः परिमितार्थः शासनहरश्च। अमात्यसम्पदोपेतो निसृष्टार्थः, पादगुणहीनः परिमितार्थः, अर्धगुणहीनः शासनहरः।"[10]

निसृष्टार्थोऽमात्याधिकारयुक्तो भवति। राज्ञो हितमनुसृत्य यत्किञ्चिदपि वक्तुं भवति तस्य स्वातन्त्र्यम्। यथा पाण्डवदूतः श्रीकृष्णः। परिमितार्थदूतः मन्त्रिपरिषदा राज्ञा वा निर्दिष्टं कार्यमेव सम्पादयितुं शक्नोति। यद्यप्ययमप्यमात्याधिकारयुक्तो भवति तथापि ततः पादगुणहीनोऽयं भवति। शासनहरस्तु केवलं राजकीयपत्राणि सन्देशादीनि वा प्रापयति। मिताक्षरायां सोऽयं विषयो व्याख्यातः-

'तत्र निसृष्टार्था राजकार्याणि देशकालोचितानि स्वयमेव कथयितुं क्षमाः, उक्तमात्रं ये परस्मै निवेदयन्ति ते सन्दिष्टार्थाः, शासनहरास्तु राजलेखहारिणः'[11]।

शत्रुदेशे दूतः किं पश्येत् कथं व्यवहरेत् कथं च शत्रुवृत्तान्तान् ज्ञायेत इत्यादयोऽनेके विषया अर्थशास्त्रे भृशं प्रतिपादिताः- सुप्रति-विहितयानवाहनपुरुषपरिवापः प्रतिष्ठेत्। शासनमेवं वाच्यः परः, स वक्ष्यत्येवं, तस्येदं प्रतिवाक्यम्-एवमतिसन्धातव्यमित्यधीयानो गच्छेत्। अटव्यन्तपाल पुरराष्ट्रमुख्यैश्च प्रतिसंसर्गं गच्छेत्। अनीकस्थानयुद्धप्रतिग्रहापसारभूमीरात्मनः परस्य चावेक्षेत। दुर्गराष्ट्रप्रमाणं सारवृत्तिगुप्तिच्छद्राणि चोपलभेत। पराधिष्ठानमनुज्ञातः प्रविशेत्। शासनं च यथोक्तं ब्रूयात् प्राणाबाधेऽपि दृष्टे। परस्य वाचि वक्त्रे दृष्ट्यां च प्रसादं वाक्यपूजनमिष्टपरिप्रश्नं गुणकथासङ्गमासन्नमासनं सत्कारमिष्टेषु स्मरणं विश्वासगमनं च लक्षयेत् तुष्टस्य। विपरीतमतुष्टस्य। तं ब्रूयात्- दूतमुखा वै राजानस्त्वं चान्ये च। तस्मादुद्यतेष्वपि शस्त्रेषु यथोक्तं वक्तारः तेषामन्तावसायिनोऽप्यवध्याः, किमङ्ग पुनर्ब्राह्मणाः। परस्यैतद् वाक्यमेव दूतधर्मः इति।

वसेदविसृष्टः, प्रपूजया नोत्सिक्तः, परेषु बलित्वं न मन्येत, वाक्यमनिष्टं सहेत, स्त्रियः पानं च वर्जयेत्, एकः शयीत, सुप्तमत्तयोर्हि भावज्ञानं दृष्टम्। कृत्यपक्षोपजापमकृत्यपक्षे गूढप्रणिधानं रागापरागौ भर्तरि रन्ध्रं च प्रकृतीनां तापसवैदेहकव्यञ्जनाभ्यामुपलभेत। तयोरन्तेवासिभि-

श्चिकित्सकपाषण्डव्यञ्जनोभयवेतनैर्वा, तेषामसम्भाषायां याचकमत्तोन्मत्त-सुप्तप्रलापैः पुण्यस्थानदेवगृहचित्रलेख्यसंज्ञाभिर्वा चारमुपलभेत्। उपलब्धस्योपजापमुपेयात्। परेण चोक्तः स्वासां प्रकृतीनां परिमाणं नाचक्षीत। सर्व वेद भवानिति ब्रूयात्, कार्यसिद्धिकरं वा।

कार्यस्य सिद्धावुपरुध्यमानस्तर्कयेत्। किं भर्तुर्मे व्यसनमासन्नं पश्यन्, स्वं वा व्यसनं प्रतिकर्तुकामः, पार्ष्णिग्राहासारावन्तः-कोपमाटविकं वा समुत्थापयितुकामः, मित्रमाक्रन्दं वा व्यापादयितुकामः, स्वं वा परतो विग्रहमन्तःकोपमाटविकं वा प्रतिकर्तुकामः, संसिद्धं मे भर्तुर्यात्राकालमभि-हन्तुकामः, सस्यकुप्यपण्यसङ्ग्रहं दुर्गकर्म बलसमुत्थानं वा कर्तुकामः स्वसैन्यानां वा व्यायामदेशकालावाकाङ्क्षमाणः, परिभवप्रमदाभ्यां वा, संसर्गानुबन्धार्थो वा मामुपरुणद्धीति ज्ञात्वा वसेदपसरेद्वा। प्रयोजनमिष्टमवेक्षेत् वा। शासनमनिष्टमुक्त्वा बन्धवधभयादविसृष्टोऽप्यागच्छेत्। अन्यथा नियम्येत।

प्रेषणं सन्धिपालत्वं प्रतापो मित्रसङ्ग्रहः।
उपजातः सुहृद्भेदो दण्डगूढातिसारणम्॥

बन्धुरत्नापहरणं चारज्ञानं पराक्रमः।
समाधिमोक्षो दूतस्य कर्म योगस्य चाश्रयः॥

स्वदूतैः कारयेदेतत् परदूतांश्च रक्षयेत्।
प्रतिदूतापसर्पाभ्यां दृश्यादृश्यैश्च रक्षिभिः॥

(अर्थशास्त्रे, 15 अध्याये)

तदेतत्सर्व सक्षिप्य कामन्दकीयेऽप्युक्तम्-

रिपोः शत्रुपरिच्छेदः सुहृद्बन्धुविभेदनम्।
दुर्गकोशबलज्ञानं कृत्यपक्षोपसंग्रहः॥
राष्ट्राव्यपेतपालान्तमात्मसात् करणं तथा।
युद्धापसारभूज्ञानं दूतकर्मेति कथ्यते॥

(कामन्दकीयनीतिसारे- 15.22-23)

दूतश्च चरश्च-

चरोऽपि दूतेष्वन्यतमो भवति। कौटिलीयार्थशास्त्रे चरस्य कृते गूढपुरुषशब्दस्य प्रयोगो लभ्यते। संस्था-सञ्चारभेदाच्चरोऽयं द्विविधः। एकस्मिन्नेव स्थाने कार्यसम्पादकः प्रथमः, भ्रमणशीलश्च द्वितीयः। कार्यानुसारेण कौटिल्यश्चराणां नवभेदान् न्यरूपयत्-कापटिकः, उदास्थितः, ग्रहपतिकः, वैदेहकः, तापसः, सत्री, तीक्ष्णः, रसदः, परिव्राजिका भिक्षुकी वा।

चरस्य कार्यं केवलमपराधान्वेषणमेव नास्ति। सः प्रजायाः सुखदुःखवृत्तान्तान् राजकीयव्यवस्थायाः प्रजासु प्रभावं तत्र प्रजानां प्रतिक्रियां चेत्यादिबहुविषयान् राज्ञे निवेदयति। वस्तुतो दूतः सन्धिविग्रहेण सम्बद्धो भवति चरश्च प्रजाया दिनचर्यया। अतश्चोक्तं कामन्दके-

दूते सन्धानमायत्तं चरे चर्या प्रतिष्ठिता (13-34)

राजनीतिशास्त्रगतं दूतचरव्यवस्थाविषयकं सर्वमेतत्प्रपञ्चजातं परिशील्य एतद् वक्तुं शक्यते यत् शास्त्रे दूतचरौ राजप्रतिनिधिरूपेण प्रतिष्ठापितौ। अनयोरभावे राज्ञो न कापि गतिर्भवति। राज्यस्य विकासे विस्तारे प्रजायाः संरक्षणे च सर्वत्रैव दूताश्चराश्च सर्वथाऽपेक्षिता भवन्तीति।

बृहत्त्रय्यां किरातार्जुनीयमहाकावयस्य प्रथमः सर्गः गुप्तचरव्यवस्थाया निदर्शनमस्ति। महाकवेर्भारवेः प्रतिभा यथा काव्यबन्धेषु नवनवानामर्थानामुन्मेषणे चाऽत्र प्रगल्भते तथैव राजशास्त्रप्रतिपादितगुप्तचरव्यवस्थाया यथार्थनिरूपणेऽपि। युधिष्ठिरेण दुर्योधनस्य व्यवहारं ज्ञातुं नियुक्तो वनेचरोऽत्र वर्णिलिङ्गी[12] सन् स्वकार्यं करोति। तस्मिन्नेव वेषे च समागत्य युधिष्ठिराय सर्वं वृत्तजातं निवेदयति। अयं कौटिल्यप्रतिपादितचरभेदेषु कापटिककोटावन्तर्भवति। कापटिको विद्यते परमर्मज्ञः प्रगल्भश्छात्रः।[13] वनेचरोऽयं स्वीयं पारम्परिकं वेषादिकं परित्यज्य ब्रह्मचारी भूत्वा हस्तिनापुरं गच्छति तत्रत्यं सर्वं वृत्तजातं च जानाति। ब्रह्मचारिशब्दोऽत्र तपस्विनो ब्रह्मचारिणो विद्यार्थिनो वा वाचकः। कौटिलीये यद्यपि कापटिके छात्र एवाऽभीष्टः किन्तु कामन्दकीये तपस्विलिङ्गिनोऽप्यत्राभीष्टाः-

तपस्विलिङ्गिनो धूर्ताः पण्यशिल्पोपजीविकाः।
चराश्चरेयुः परितः पिबन्तो जगतां मतम्॥ (13.26)

कामन्दकनीतिशास्त्रे ये हि चरगुणा निर्दिष्टास्तेषां दृष्टान्तोऽयं वनेचरः। चारेण तर्केङ्गितज्ञेन स्मृतिमता च भाव्यम्। स अनुक्तमपि शत्रुमनोगतं भावं जानीयात् तं च यथारूपं स्मरेत्।[14] वर्णिलिङ्गी वनचरोऽयं हस्तिनापुरेऽनुभूतं सर्वं प्रत्यक्षं निवेदयति। स राजनीतिपटुश्चरकर्मवेत्ता चापि वर्तत इति स्वस्वामिहितकामनया शत्रुराजगुणान् वक्तुकामो वदति-

क्रियासु युक्तैर्नृपचारचक्षुषो
न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधुसाधु वा
हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः॥ (1.4)

प्रायशः सर्वैरपि राजनीतिशास्त्राचार्यैः राजा 'चारचक्षुः' कथितः। स सर्वत्र गत्वा स्वयं सर्वं द्रष्टुं न शक्नोति। चारा एव तत् सर्वं विज्ञाय राज्ञे निवेदयन्तीति चारदृष्ट्यैव राजा राज्यं पालयति। प्रसङ्गेस्मिन् मल्लिनाथः नीतिवाक्यामृतोक्तिं प्रमाणतयोप्रस्थापयन् वक्ति-

'स्वपरमण्डले कार्याकार्यावलोकने चराश्चक्षूंषि क्षितिपानाम्'[15] वनेचरोऽयं सप्तदशश्लोकेषु दुर्योधनस्य वृत्तान्तं वर्णयति। तस्य वचनेषु स्पष्टताऽर्थगाम्भीर्यं सरलता च लसन्त्येव। यथा-

विशङ्कमानो भवतः पराभवं नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिनः।
दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः॥ (1.7)

अन्यद् यद् दुर्योधनराज्यगतं वैशिष्ट्यं तत्सर्वं स्पष्टगिरा युधिष्ठिराय विनिवेद्याऽन्ते स्वस्वामिनोऽवधानतां प्रतिपादयितुं स कथयति-

तदाशु कर्तुं त्वयि जिह्ममुद्यते
विधीयतां तत्र विधेयमुत्तरम्।
परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां
प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः॥ (1.25)

मादृशां चाराणां वचनानीमानि वार्तामात्राणि सन्ति। तत्र कर्तव्याकर्तव्यविवेके न ममाधिकारस्तत्र तु भवानेव प्रभवति। भारवेरियं गुप्तचरवृत्तान्तयोजना राजशास्त्रानुसारिणी वर्तते। राजशास्त्रे प्रतिपादिता सर्वेऽपि चारगुणा वनेचरेऽस्मिन् समवेता इति सुस्पष्टमेव।

महाकविमाघप्रणीते शिशुपालवधमहाकाव्ये द्वितीयसर्गे गुप्तचर-व्यवस्थायाः केचन सन्दर्भा विलसन्ति। कौटिलीयादिभिराचार्यैः दूतानां चराणां च ये गुणाः प्रोक्तास्तेषां प्रभावोऽत्र स्पष्टतया लक्ष्यते। अधोलिखितं पद्यं महाकवेर्माघस्य राजनीतितत्त्वज्ञताया उदाहरणम्-

अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥ (2.112)

प्रसङ्गेऽस्मिन्नन्येऽपि दूतचरव्यवस्थायाः सन्दर्भाः प्राप्यन्ते- अत्र राजीनतिसम्बन्धिनः केचन श्चोका माघस्य राजधर्मज्ञतामपि पुरस्कुर्वन्ति-

तन्त्रावापविदा योगैर्मण्डलान्यधितिष्ठता।
सुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्रा इव शत्रवः॥ (2.88)

बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यङ्गो धनसंवृद्धिकञ्चुकः।
चारेक्षणो दूतमुखः पुरुषः कोऽपि पार्थिवः॥ (2.82)

कृत्वा कृत्यविदस्तीर्थेष्वन्तः प्रणिधयः पदम्।
विदांकुर्वन्तु महतस्तलं विद्विषदम्भसः॥ (2.111)

अज्ञातदोषैर्दोषज्ञैरुद्दूश्योभयवेतनैः।
भेद्याः शत्रोरभिव्यक्तशासनैः सामवायिकाः॥ (2.113)

शिशुपालवधे षोडशसर्गे श्रीकृष्णस्य चैद्यदूतसंवादो वर्णितः। प्रसङ्गोऽयं दूतस्य वचनकौशलमभिव्यनक्ति।

श्रीहर्षप्रणीते नैषधीयचरिते षष्ठे सर्गे नलः इन्द्रादीनां दूतो भूत्वा दमयन्तीं प्रति गच्छति। कौटिलीयार्थशास्त्रे दूतस्य स्त्रीसंसर्गः निषिद्धः। नैषधीयचरिते दूतीभूतस्य नलस्य वर्णने सिद्धान्तस्यास्य प्रभावः समवलोक्यते-

भैम्या समं नाजगणद्वियोगं स दूतधर्मे स्थिरधीरधीशः।
पयोधिपाने मुनिरन्तरायं दुर्वारमप्यौर्वमिवौर्वशेयः॥[15]

(7.2)

अत्र 'भैम्या समं नाजगणद्वियोगम्' इत्यनेन दूतधर्मस्य निर्विकारत्व-लक्षणत्वमुक्तम्। दूतधर्मे नियोजितो नलः दमयन्त्या वियोगं न किञ्चिदपि मेने। यतो हि दूतधर्मः स्वामिनः सेवाव्रतमेव भवति। 'स्थिरधीः' इत्यनेन नलस्य दूतयोग्यता प्रत्यपादि। अयमेव भावोऽन्यत्रापि दृश्यते-

हेलां दधौ रक्षिजनेऽप्रसज्जे लीनश्चरामीति हृदा ललज्जे।
द्रक्ष्यामि भैमीमिति संतुतोष दूतं विचिन्त्य स्वमसौ शुशोच॥

(6.10)

अत्र चतुर्थचरणे 'दूतस्य मम भैम्या अभिलाषोऽनुचितः' इत्यर्थं निर्दिशन् कविः दूतधर्मं स्मारयति। नैषधीयचरिते एतादृशाः प्रसङ्गाः अनेकत्र लभ्यन्ते।

बृहत्त्रय्यां दूतगुप्तचरव्यवस्थाया राजशास्त्रानुप्राणिता एव सन्दर्भाः समुपलभ्यन्त इत्यध्ययनेनानेन निश्चयेन वक्तुं शक्यते। मनुस्मृतौ शुक्रनीतौ शुक्रनीतिसारे याज्ञवल्क्यस्मृतौ कौटिलीयार्थशास्त्रे कामन्दकीये नीतिशास्त्रे च दूतगुप्तचरयोः ये केचन विशेषाः प्रत्यपाद्यन्त त एव बृहत्त्रय्यां समर्थिताः। नैषधीयचरिते हंसदौत्यं कविना कल्पितम्। तादृशदूतानां राजकार्येषूपयोगित्वं न वेति सुधीभिरूह्यम्।

संदर्भग्रन्थाः

1. मिश्रः बदरीनारायणः (सं.) किरातार्जुनीयम्, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2002
2. शास्त्री, हरगोविन्द (सं.) शिशुपालवधम्, चौखम्बा विद्याभवनम्, वाराणसी, 2003
3. आचार्यः, नारायणरामः (सं.) नैषधीयचरितम्, मेहरचन्द-लक्षमणदास पब्लिकेशन्स, नयी दिल्ली, 1986

4. गैरोला, वाचस्पतिः (सं.) अर्थशास्त्रम्, चौखम्बा विद्याभवनम्, वाराणसी, 1996

5. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, द्वितीय भाग, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1982

6. मित्र, राजेन्द्रलाल (सं.) कामन्दकीयनीतिसार, एसियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, 1982

7. आचार्य, नारायणराम (सं.) याज्ञवल्क्यस्मृति, नागपब्लिशर्स, नयी दिल्ली, 1985

1-2. ऋग्वेदस्य राजकर्मसूक्ते (1.25), इन्द्रवृत्रयुद्धप्रसङ्गे (1.32), स्वराज्यसूक्ते तथा चान्यत्र राजनीतिविषयिणी चर्चा लभ्यते। अथर्ववेदेऽपि विषयोऽयं बहुत्र चर्चितः। द्रष्टः वेदों में राजनीतिशास्त्र, पृ.5

3. ऋग्वेदे- 10.106.2

4. कौटिलीयार्थशास्त्रे- पृ.60

5. चारचक्षुर्नरेन्द्रस्तु कामन्दकीयनीतिसारे- 13.3

6. स्वपन्नपि हि जागर्ति चारचक्षुर्महीपतिः, 13.28

7. द्र. काणे,पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास- पृ.635

8. मनुस्मृतौ- 7.63-64

9. 9,4.13.2, 13.25

10. अमात्यसम्पदोपेतो निसृष्टार्थः, पादगुणहीनः परिमितार्थः, अर्धगुणहीनः शासनहरः, कौटिलीयार्थशास्त्रे-पृ. 49

11. याज्ञवल्क्यस्मृतौ- 3.28 मिताक्षरा।

12. सः वर्णिलिङ्गि विदितः समाययौ-1.1

13. अर्थशास्त्रे-पृ. 29

14. तर्केङ्गितज्ञः स्मृतिमान् मृदुर्लघुपरिक्रमः। क्लेशायाससहोदक्षश्चरः स्यात् प्रतिपत्तिमान्। कामन्दकीये-13.25

15. तत्रैव घण्टापथे।

बृहत्त्रयी में पारम्परिक-नारी-विमर्श

–डॉ. कल्पना जैन

संस्कृत वाङ्मय में बृहत्त्रयी महाकाव्य की सर्वोच्च परम्परा में जो तीन महाकाव्य परिगणित हैं वे क्रमशः किरातार्जुनीयम्[1], नैषधीयचरितम्[2], और शिशुपालवधम्[3] हैं। वृहत्त्रयी महाकाव्यों की इस परम्परा में नारी विमर्श का विषय इसलिए महत्वपूर्ण हो जाता है कि इन महाकाव्यों के प्रणेता तीनों ही महाकवि केवल कविमात्र नहीं हैं अपितु वे भारतीय दार्शनिक आचार्य परम्परा के निष्णात आचार्यों की श्रेणी में प्रतिष्ठित हैं। ऐसी स्थिति में 'कवयः क्रान्तदर्शिनः' की सूक्ति के अनुसार इन आचार्य महाकवियों की दृष्टि में नारी विमर्श का स्वरूप निर्धारित करना एक सांस्कृतिक प्रयास तो होगा ही साथ ही साथ वह कविदृष्टि से भारतीय नारी शक्ति के स्वरूप का परिचय कराने में भी समर्थ होगा।

महाकवि भारवि कृत 'किरातार्जुनीयम्' और महाकवि श्रीहर्ष रचित 'नैषधचरितम्' में नारी पात्रों का विमर्श हमें इन दोनों काव्यों के इतिवृत में मिल जाता है। तृतीय काव्य महाकवि माघकृत 'शिशुपालवधम्' में कोई स्त्रीपात्र न होने से हम माघ के नारी विमर्श से परिचित नहीं हो पाते।

तीनों ही महाकाव्यों का उपजीव्य महाभारत की कथा रही है। तीनों ही महाकाव्य द्वापर कालीन भारतवर्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। किंतु इनमें प्रथम किरातार्जुनीयम् और द्वितीय शिशुपालवधम् विशुद्ध द्वापर युगीन भारतीय समाज को अपना वर्ण्यविषय बनाते हैं। क्योंकि दोनों ही महाकाव्यों की कथा क्रमशः पाण्डवों और श्रीकृष्ण से संबंद्ध

है जबकि नैषधीयचरितम् की कथा महाभारत के अंतर्गत वनपर्व में विद्यमान नलोपाख्यान से संबंद्ध है। और नल वस्तुतः त्रेतायुग का नायक है। अतः नैषधीयचरितम् में वर्णित नारी विमर्श वस्तुतः त्रेतायुगीन भारतीय समाज का वर्णन करता है। इन महाकाव्यों में नारी विमर्श के स्वरूप से परिचित होने से पूर्व हम कुछ मूल बिंदुओं को दृष्टिपथ में स्थिर कर लें जो क्रमशः इस प्रकार है-

1) भारवि कृत किरातार्जुनीयम् नीति महाकाव्य है इसमें द्वापर के भारत की सामाजिक मान्यताओं से ओतप्रोत नारी समाज का चित्रण है। नैषधीयचरितम् मूलतः त्रेता युग के नायक और नायिका को अपना वर्ण्यविषय बनाता है इसलिए इस महाकाव्य में वर्णित स्त्री समाज की मान्यताएँ उत्तरवैदिक भारतीय सभ्यता के अधिक निकट है।

2) तीनों ही महाकाव्यों का उपजीव्य महाभारत है किंतु किरातार्जुनीयम् और शिशुपालवध का इतिवृत्तात्मक परिवेश एक ही युग का है जबकि महाभारत के प्रणेता महर्षि वेदव्यास के द्वारा वनपर्व के अंतर्गत नलोपाख्यान पर्व में नैषधीयचरितम् की मूलकथा वर्णित है किंतु नल दमयन्ती की यह प्रणयगाथा जिस समय का प्रतिनिधित्व करती है वह त्रेतायुग है।

3) त्रेता वस्तुतः त्रयीम् इतः गतः इति त्रेता अर्थात् जो ऋक, यजु, साम, वेदयत्री के सिद्धांत का अनुपालन करता है वह त्रेता है इसीलिए नल और दमयंती के चरित्र में कठोर वैदिक धर्म के अनुशासन का स्वरूप दिखाई देता है जबकि भारवि के किरातार्जुनीयम् में द्वापर का भारतीय समाज प्रतिबिम्बित है जहाँ वर्णाश्रम धर्म तथा वैदिक धर्म के प्रति आस्था तो है परंतु परंपराओं में शिथिलता एवं मूल्यों में क्षरण स्पष्ट दिखाई देता है। वाल्मीकि ने आदिकाव्य रामायण में सीता के मुख से दमयन्ती की प्रशंसा कराई है-

नैषधम् दमयन्तीव भैमीपति मनुव्रता।
तथाहमिक्ष्वाकुवरं राम प्रति मनुव्रता।।[4] (बा.रा. सुन्दरकाण्ड)

महाभारत का सामाजिक परिवेश नारी को अधिक स्वंतत्रता तो देता है किंतु उसके सामाजिक अवमूल्यन को भी प्रकट करता है।

4) दमयन्ती जहाँ भारतीय परंपराओं के अक्षरशः पालन में अपनी सार्थकता ढूंढती है वही भारवि की द्रौपदी अपने पति युधिष्ठिर को उसकी कायरता के लिए धिक्कारती है।

महाकवि भारवि का नारी विमर्श

महाकवि भारवि 550-600 ईस्वी में विद्यमान थे यह प्रायशः विद्वानों का मत है। अपने अर्थगौरव के लिए यह महाकवि अपनी इस विशेषता की बार-बार चर्चा भी अपने काव्य में करता है। जैसे आरंभ में ही "स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीम्'" औदार्यम् अर्थ गाम्भीर्यम्' कहा है। द्वितीय सर्ग में भीम की उक्ति की प्रशंसा करते हुए युद्धिष्ठिर ने 'न च न स्वीकृतमर्थगौरवम् एकादश सर्ग में अर्जुन ने इन्द्र की प्रशंसा में 'गरीयो लाघवान्वितम्' गरीयोऽर्थभूयस्त्वपरिगतम्' तथा चतुर्दश सर्ग में वनेचर की प्रशंसा में 'स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेय सम्पदम्' ऐसा कहा है। द्वितीय सर्ग के प्रारंभ में भीम की उक्ति में अर्थगौरव देखिए-

अचिरेण परस्य भूयसीं विपरीतां विगणच्य चात्मनः।
क्षयमुक्तिमुपक्षते कृती कुरूते तत्प्रतिकारमन्यथा।।[5]

भारवि की कविता द्वापर युग में विद्यमान उस भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें भारत की धर्मप्राण संस्कृति दृढ़ता सिद्धांत प्रियता पदे-पदे झंकृत होती है। यद्यपि त्रेता से द्वापर तक आते-आते सामाजिक संबंधों में क्षरण की प्रक्रिया तीव्र हो चुकी थी। किंतु जनमानस में स्त्री के प्रति वही प्रतिष्ठा और गौरव की

भावना विद्यमान थी जो त्रेता में थी और जो कोई भी इस मर्यादा का उल्लंघन करने का दुस्साहस करता था वह दंडनीय था। त्रेता की जानकी का परित्याग राम मर्यादा को बंधन में करते हैं न की अंत:करण से-

स्नेहं दयां च सौख्यं च यद्वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति में व्यथा।।[6]

तथापि एक असत्यभाषी व्यक्ति के अपलाप को सुनकर राम के द्वारा सीता का परित्याग उस युग के आदि कवि वाल्मीकि को सह्य नहीं है और वे इसका प्रतिकार करने के लिए सर्वप्रथम जो काव्य रचते हैं वह सीताचरितम् है जिसे बाद में पौलस्त्यवध और अंत में रामायणम् कहा गया। कवि की दृष्टि सबसे पहले मानवी: संबंधों की गरिमा पर टिकती है और इसलिए जब तक किरातार्जुनीयम् के कथ्य पर आते हैं तब हमें भारवि की भावनाओं में विद्यमान नारी शक्ति का परिचय मिलता है। महाकाव्य के प्रथम सर्ग में ही द्रौपदी वनवास में विद्यमान ज्येष्ठ पांडव युधिष्ठिर से संवाद करते हुए दिखाई देती है। युधिष्ठिर हस्तिनापुर भेजे गए अपने दूत के मुख से दुर्योधन के शासन की प्रशंसा सुनने के बाद द्रौपदी के भवन में प्रवेश करते हैं और युधिष्ठिर की उस मनोदशा को तत्क्षण भांपकर महारानी द्रौपदी युधिष्ठिर को नैराश्य छोड़कर पुरूषार्थ के द्वारा विजयश्री वरण करने का उपदेश देती है-

निशम्य सिद्धिं द्विषतामपाकृतीस्ततस्ततस्त्या विनियन्तुमक्षम।
नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीरूदाजहार द्रुपदात्मजा गिर:।।[7]

इस श्लोक में 'मन्युव्यवसायदीपिनी' शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण है। द्रौपदी राजा युधिष्ठिर के क्रोध को उत्तेजित करना चाहती है। स्त्री सृजनशक्ति है और जो रचता है वह अपनी रचना को बचाना भी चाहता है। यह प्राकृतिक नियम हैं अत: स्त्री शक्ति के द्वारा उन तमाम विचारों सिद्धांतों एवं परम्पराओं को बचाए जाने के लिए

पौरूष को उत्तेजित करना अनिवार्य है। जिनसे मिलकर इस विश्व की और इस विश्ववारा संस्कृति की सुरक्षा होती है–

भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम्।
तथापि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां निरस्तनारीसमया दुराधय।।[8]

इस पद्य में 'निरस्तनारीसमया दुराधयः माम् व्यवसाययन्ति' यह वाक्यांश हमें यह बताता है कि जब कभी भी किसी भी समाज में नारी समय को निरस्त किया जाता है अर्थात् नारी धर्म की शालीनता को हटाकर उसे उसकी मर्यादा से बाहर ले जाने की दुरभिसंधि की जाती है तब समाज में केवल और केवल मनोविकार पैदा होते हैं और कुछ नहीं। हम भारवि के चिन्तन में स्पष्ट देख रहे हैं कि वे समाज में राजनीति में परिवार में सुख और दुःख में हर स्थान पर पूरी गरिमा के साथ नारी शक्ति के विचारों को प्रमुखता से वर्णन कर रहे हैं।

एक और पद्य में द्रौपदी कहती है– गुणानुरक्तान् अनुरक्त साधना अर्थात् नारी का प्रथम ओर स्थायी आकर्षण वस्तुतः गुणों के प्रति होता है न कि रूप के प्रति जबकि पुरूषों का आकर्षण रूप के प्रति होता है न कि गुणों के प्रति और यही वह बिन्दू है जहां से भारतीय नारी वैश्विक संरचना और संरक्षण में पुरूष से श्रेष्ठतर सिद्ध होती है। भारवि का नारी विमर्श गुण पक्षपाती है। अपने प्रस्ताव की समाप्ति पर युद्धिष्ठिर को शुभकामना की जगह आशीर्वाद देती है–

विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं
शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः।।[9]

द्रौपदी का यह आशीर्वाद उसे एक राष्ट्रीय चरित्र के रूप में स्थापित करता है। भीमसेन द्रौपदी के गहन राजनैतिक चिन्तन

को स्वीकृति देते हुए कहते हैं कि ऐसी राजनैतिक दूरदृष्टि तो साक्षात बृहस्पति भी नहीं दे सकते-

यदवोचत वीक्ष्य मानिनी परितः स्नेहमयेन चक्षुषा।
अपि वागधिपस्य दुर्वचं वचनं तद्विदधीत विस्मयम्।।[10]

किरातार्जुनीयम् के सप्तम सर्ग से एक बार पुनः नारी पात्रों का प्रवेश होता है। अर्जुन को डिगाने के लिए इन्द्र अप्सराओं को नियुक्त करते हैं। भारवि जैसे कवि के लिए देवसंस्कृति के रूप और लावण्य का वर्णन करते हुए भी अपनी भारतीय दार्शनिक स्त्रीविमर्शात्मक दृष्टि को त्यागना संभव नहीं है। अप्सराओं और गन्धर्वों के विलास के क्षणों को चित्रित करते हुए भी भारवि उन उपमाओं और शब्दों का प्रयोग करते हैं जो भारतीय नारीत्व की अवधारणा को स्पष्ट करते हैं और रूप के ऊपर गुणों की विजय को शब्द देते हुए कहते हैं-

श्रेयसीं तव सम्प्राप्ता गुणसम्पदमाकृतिः।
सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं हि गुणार्जनम्।।[11]

इसी प्रकार संस्कृत साहित्य के अप्रतिम महाकवि श्रीहर्ष और उनकी नायिका दमयन्ती नारी विमर्श के अप्रतिम उदाहरण है। प्रथम सर्ग में दमयंती का परिचय देते हुए वे लिखते हैं-

उपासनामेत्य पितुः स्म रज्यते दिने दिने सावसरेषु वन्दिना।
पठत्सु तेषु प्रति भूपतीनलं विनिद्ररोमाजनि श्रृण्वती नलम्।।[12]

इस पद्य में 'पितु उपासनामेत्य' शब्द उस किशोरी दमयन्ती के शील की पराकाष्ठा प्रदर्शित करते हुए कहता है कि उसका प्रभात पिता की उपासना से शुरू होता है यह वाक्य जहां नायिका के गुणों को अभिव्यक्त करता है वहीं कवि के लोकपरिवेक्षण की सूक्ष्मता को भी अभिव्यक्त करता है। दमयन्ती जिस रूप में पुराणों में वर्णित है श्रीहर्ष ने उसे उससे भी अधिक महिमामण्डित किया

है। दमयन्ती का परिचय नल को देते हुए हंस का कथन है-

श्रियमेव परं धराधिपाद्गुणसिन्धोरुदितामवेहि ताम्।
व्यवधावपि वा विधोः कलां मूडचूडानिलया न वेद कः॥[13]

इस पद्य में शिव की चन्द्रकला और दमयन्ती की तुलना अनुपमेय है। यद्यपि नैषधीयचरितम् के 22 सर्गों में नलोपख्यान की कथा केवल नायिका-नायक के विवाहपर्यन्त ही वर्णित है तथापि महाकवि के वर्णन वैशिष्ट्य के कारण नैषध में विषयों का पर्याप्त विवेचन हुआ। बृहत्त्रयी वस्तुतः संस्कृत वाङ्मय के उस काल की रचना है जब कविता और काव्यशास्त्र दोनों ही अपनी पराकाष्ठा पर आरूढ थे। इसलिए जब भारवि अपने अर्थगौरव के साथ किरातर्जुनीयम् का आरम्भ करते हैं और कविता और वैदुष्य का मंजुल समन्वय प्रकट करने के लिए महाभारत की कथा को ही काव्य का विषय बनाते हैं तब भारवि के पाण्डित्य और कवित्व को चुनौती देने के लिए माघ शिशुपालवध की रचना करते हैं। संभवतः इसलिए परवर्ती काल में यह उक्ति चल पड़ी होगी।

'तावद् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः'

किन्तु नैषध की रचना के बाद संस्कृत कविता और काव्यशास्त्र दोनों ही अपने उच्चतम शिखर का स्पर्श कर लेते हैं-

'उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः।'

नैषधकार की दृष्टि में नारी विमर्श का जो स्वरूप है वह दो रूपों में प्रकट हुआ है। एक मानवीय किशोरी युवति और नववधू का स्वरूप है और दूसरा भगवती सरस्वती का दैवीय स्वरूप। श्रीहर्ष मानवीय नारी के स्वरूप के सामर्थ्य को इतनी महत्ता प्रदान करते हैं कि दैवीय स्त्री शक्ति को उसकी सहायता के लिए अवतीर्ण होना पड़ता है। नैषधीयचरितम् के प्रथम नौ सर्गों तक दमयन्ती के मानवीय गुणों की विकास की यात्रा में अनेक सुंदर पद्यों की रचना महाकवि श्रीहर्ष ने की है- नल के समक्ष दमयन्ती का वर्णन करते

हुए हंस की उक्ति है-

सुषमाविषये परीक्षणे निखिलं पद्मभाजि तन्मुखात्।
अधुनामापि न भङ्गलक्षणं सलिलोन्मज्जनमुज्झति स्फुटम्।।[14]

दशम सर्ग में पञ्चनली वर्णन में दमयन्ती की सहायता के लिए प्रकट हुई भगवती सरस्वती अपने दैवीय कौशल से जिस प्रकार दमयन्ती की सहायता करती है वह आज भी संसार के किसी भी भाषा के कवि के लिए एक ईर्ष्यात्मक गुण बन सकता है यदि कालिदास-

'स्त्रीणां अशिक्षितपटुत्वम्'

कहकर स्त्रियों में सहज भाव बोध की क्षमता पुरूषों से अधिक होती है इस सिद्धांत का समर्थन करते हैं तो श्रीहर्ष उस क्षमता को वैदुष्य की पराकाष्ठा तक स्थापित करने वाले महाकवि हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बृहत्त्रयी के कवियों द्वारा भारतीय परिवेश में नारी विमर्श के संदर्भों को अत्यंत सम्मानजनक ढंग से प्रस्तुत किया गया है और उन कवियों द्वारा प्रदत्त संकेतों के आधार पर नारी शक्ति के पुर्नजागरण का सूत्रपात अत्यंत प्रभावी ढंग से किया जा सकता है।

1. किरातार्जुनीयम्, 2/8, 1993, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, श्री बदरी नारायण मिश्र
2. नैषधीयचरितम्, 2/8, 2004, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, आ. श्री शेषराज शर्मा
3. शिशुपालवध,, 2003, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, श्री पण्डित हरगोविंद शास्त्री
4. बालरामायण सुंदर काण्ड
5. किरातार्जुनीयम्
6. उत्तररामचरितम्, 1/12, 1986, मोतीलाल बनारसी दास, श्री जनार्दन शास्त्री पांडेय
7. किरातार्जुनीयम्, 1/27, 1993, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, श्री बदरी नारायण मिश्र

8. किरातार्जुनीयम्, 1/28, 1993, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, श्री बदरी नारायण मिश्र
9. किरातार्जुनीयम्, 1/46, 1993, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, श्री बदरी नारायण मिश्र
10. किरातार्जुनीयम्, 2/2, 1993, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, श्री बदरी नारायण मिश्र
11. किरातार्जुनीयम, 11/11, 1993, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, श्री बदरी नारायण मिश्र
12. नैषधीयमहाचरितम्, 1/34, 1993, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, आ. श्री शेषराज शर्मा
13. नैषधीयचरितम्, 2/19, 1993, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, आ. श्री शेषराज शर्मा
14. नैषधीयचरितम्, 2/27, 1993, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, आ. श्री शेषराज शर्मा

सहायकग्रन्थ

1. नैषधीयचरितम् एक परिशीलन, डॉ. चण्डिका प्रसाद शुक्ल
2. Naishadhacharitam Prof. R.K. Hundequei
3. Nala episode in Sanskrit Literature, Dr. N.P. Uni Kerala University 1989
4. संस्कृत वाङ्मये नलचरितम्, प्रो. इच्छाराम द्विवेदी- नाग पब्लिशर्स 1992

बृहत्त्रय्यां मनोरञ्जनप्रकाराः

–डॉ. भारतभूषणरथः

साहित्यं नाम मानवजीवनसौन्दर्यतत्वम्। परिदृश्यमाने संसारे यत्र यत्र सौन्दर्यबोधः तत्र तत्र साहित्यसत्ता। अतः उक्तं विज्ञशिरोमणिना भर्तृहरिणा–

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्।।

(भर्तृहरिनीतिशतकम्-1.12)

अनेन ज्ञायते यत् समाजे साहित्यस्य प्रमुखप्रयोजनं विद्यते। परम्पराक्रमेण विदुषां महता प्रयासेन संस्कृतसाहित्योद्यानं संवर्धितमस्ति। यदि संस्कृतसाहित्येतिहासस्य पर्य्यालोचनं क्रियते, तर्हि अनेकविधानि महाकाव्यानि अस्माकं दृष्टिपथे पथिकायन्ते। वस्तुतः काव्यमाध्यमेन समाजतत्त्वं सरलोपायेन ज्ञातुं शक्यते। चतुर्वर्गफलप्राप्ति-मनोरञ्जन-शिक्षास्वास्थ्यप्रभृतीन् सूक्ष्मविषयान् काव्ये वर्णयित्वा कविः काव्यसौरभं प्रकटयति।

यद्यपि वेदेऽपि एते विषयाः सन्ति, परन्तु साधारणानाम् आशुबोधनार्थं काव्यमार्गं सर्वे आश्रयन्ति। अतः वैदिकवाङ्मयादनन्तरं प्रायशः खीष्टाब्दपूर्वपञ्चशतकात् लौकिकसंस्कृतवाङ्मयस्य प्रारम्भः समभूत्। प्रथमतः लौकिसंस्कृतभाषां तथा लौकिकं छन्दः समाश्रित्य भगवता महाकविना वाल्मीकिना मर्यादापुरुषोत्तमस्य श्रीरामचन्द्रस्य गुणानाधारीकृत्य रामायणं नाम महाकाव्यं विरचितम्, यदेव लौकिकसंस्कृतवाङ्मयस्यादि-काव्यत्वेन विवेचितं भवति। एतदनन्तरं व्यास-भास-भारवि-माघ-दण्डि-

बाणभट्ट-श्रीकर्ष-राजशेखरप्रभृतयः विश्वविश्रुताः कवयः स्वस्वकाव्यानि विरय्य लौकिकसंस्कृतवाङ्मयमतितरामृद्धिमन्तं कृतवन्तः। आलङ्कारिक-दृष्ट्या एतानि सर्वाण्येव काव्यानि विभागद्वयेन विभक्तानि कर्त्तुं शक्यन्ते। एतत्तु आलङ्कारिकशिरोमणिना विश्वनाथकविराजेन उक्तम्-

दृश्य-श्रव्यभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्॥

(साहिदर्पणः-6.12)

तत्र दृश्यकाव्यस्य परिसरे नाटक-त्रोटक-गोष्ठी-सट्टक-काव्यादीनि दशरूपकाणि अष्टादश उपरूपकाणि च अन्तर्भवन्ति। एवमेव श्रव्यकाव्यस्य परिसरे पद्यकाव्य-गद्यकाव्य-महाकाव्य-खण्डकाव्य-कथाकाव्य-नीतिकाव्य-यमककाव्यादीनि भवन्ति। सत्सु अपि बहुषु काव्यभेदेषु श्रव्यकाव्यान्तर्गतं महाकाव्यं भवति संस्कृतसाहित्ये परमाह्लादप्रदायकम्। संस्कृतसाहित्ये पञ्चमहाकाव्यानि सुप्रसिद्धानि सन्ति। यथा- रघुवंशम्, कुमारसम्भवम्, किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवधम्, नैषधीचरितञ्च। प्रसिद्धेषु पञ्चमहाकाव्येषु किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवधम्, नैषधीयचरितञ्च बृहत्त्रयीनाम्ना व्यवह्रियन्ते।

बृहत्त्रय्याः अनुशीलनेन ज्ञायते यत् कालक्रमेण भारवेः स्थानं प्रथमं भवति। तस्य किरातार्जुनीयं महाकाव्यं प्रसिद्धं भवति। अस्मिन् महाकाव्ये अष्टादशसर्गाः सन्ति। अत्र महाभारतस्य वनपर्व विर्णितस्य अर्जुनस्य पाशुपतास्त्रप्राप्तिवृत्तान्तं वर्तते। स्वल्पशब्दप्रयोगेण विपुलार्थाज्ञापनं भारवेः विशेषता। अतः उच्यते-

भारवेरर्थगौरवम्॥

शिशुपालवधमहाकाव्यस्य रचयिता महाकविः माघोऽस्ति। विंशसर्गात्मके महाकाव्येऽस्मिन् भगवता श्रीकृष्णेन कथं चेदिनरेशशिशु-पालस्य कपटवधः कृतः तदालोचितम्। महाकविकालिदासभारवि-दण्डिनामेकायतनीभूतं माघकाव्यम्। अतः अस्य काव्यकलायाः प्रशंसायां वर्त्तते सूक्तिः-

माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

श्रीहर्षस्य नैषधीयचरितं संस्कृतसाहित्ये अद्वितीयमहाकाव्यमस्ति। अत्र द्वाविंशतिः सर्गाः, यत्र राज्ञः नलस्य उदात्तचरित्रवर्णनं दमयन्ती-विवाहप्रकारश्च विद्येत। श्रीहर्षस्य दार्शनिकतत्त्वानां विचारः तथा विविधरसानां सन्निवेशनं काव्यशोभां वर्धयति। अतः केनापि उक्तम्-

नैषधं विद्वदौषधम्॥

महाकाव्ये मनोरञ्जनस्यावश्यकता–नाट्यशास्त्रकारः भरतः कथयति काव्यं धर्म-यश-आयु-हित-बुद्धि-लोकोपदेशं च विदधातीति। अतः दुःखार्त्तानां, श्रमार्त्तानां, शोकार्त्तानां, तपस्विनाञ्च विश्रान्तिजननकाले मनोरञ्जनार्थमेव काव्यस्य सृष्टिरिति भरतेन प्रतिपादितम्। अतः तेनोक्तम्-

दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति॥

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति॥

(नाट्यशास्त्रम्-1.114-115)

अतः महाकाव्यस्य कर्त्तारः काव्यनिर्माणावसरे सहृदयानां मनोरञ्जनार्थं पूर्णदृष्टिं स्थापयन्ति।

वस्तुतः महाकाव्यस्य महाकाव्यत्वं तदा एव अङ्गीक्रियते यदा महाकाव्यं सर्वलक्षणसम्पन्नं भवति। महाकाव्यस्य लक्षणावसरे आलङ्कारिकाः प्रायः ऐकभावं प्रकटितवन्तः। महाकाव्ये सर्गपरियोजना-नायकचरित्रचित्रण-रसविन्यास-विषयविनयासादयः यद्यपि प्रमुखविषयाः भवन्ति तथापि मनोरञ्जनं भवति अस्य अपरमेकं गुरुत्वपूर्णमङ्गम्। मनोविनोदनेन सह यशःप्रप्तिः-सम्पत्तिलाभः-सामाजिकव्यवहारज्ञानमङ्गलविनाशनं सद्यः आनन्दानुभवः-कान्तासम्मितोपदेशप्राप्तिश्च काव्यप्रयोजनमिति मतमुपस्थापितवान् मम्मटाचार्यः। यथा-

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।

(काव्यप्रकाशः-1/2)

अतः महाकाव्यलक्षणे लक्षणकाराः वदन्ति यत्-

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते..........
नगरार्णवशैलर्त्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनै।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः।।
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च........। इति दण्डिः (काव्यादर्शः- 1/96)

तथा- तन्त्रोत्पाद्ये पूर्व........

स्कन्धावारनिवेशं क्रीडां यूनां यथायथं तेषु।
रव्यस्तमयं संध्यां संतमससमथोदयं शशिनः।।

रजनीं च तत्र यूनां समाजसंगीतपानशृङ्गारान्।।
इति वर्णयेत्........इति आचार्यरुद्रटः

(काव्यालङ्कारः- 16/14)

एवं सरस्वतीकण्ठाभरणे आचार्यभोजः, साहित्यदर्पणे कविराजविश्वनाथः तथा अपरे विद्वांसः महाकाव्ये मनोरञ्जनस्य भूमिकाम् अपरिहार्याम् इति अङ्गीकुर्वन्ति। सत्सु अपि एतेषु मनोरञ्जनोपायेषु महर्षिवात्स्यायनप्रोक्ताश्चतुःषष्टिकलाः मनोरञ्जनस्य चरमोत्कर्षकाः सन्ति। चतुषष्टिकलासु गीतम्, वाद्यम्, नृत्यम्, आलेख्यम्, चित्रयोगः, भूषणादयः सहृदयानां मनोरञ्जने गुरुत्वपूर्णां भूमिकां निर्वहन्ति। बृहत्त्रय्याः अवलोकनेन तत्र मनोरञ्जनस्य विविधाः प्रकाराः दृश्यन्ते।

संसारेऽस्मिन् मनोरञ्जनार्थं काव्यशास्त्रस्य स्थानमुत्कृष्टं वर्तते। काव्ये चतुःषष्टिकलाः सन्ति इति अस्मत्पूर्वजैः विनिश्चितम्। विद्यमानेषु चतुःषष्टिकलासु काव्ये प्रसिद्धाः कलाः एव अधिकतया विचारणीयाः भवन्ति। एताः कलाः मनोरञ्जनस्य भूमिकां निर्वहन्ति। यथा-

सङ्गीतम्- सामवेदः सङ्गीतस्य मूलस्त्रोतः। नाट्यशास्त्रस्य सृष्टिः सामवेदात् इति नास्त्यत्र सन्देहः। यथा भरतनाट्यशास्त्रे-

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।। (नाट्यशास्त्रम्-1.15)

आह्लादकः नादविशेषः सङ्गीतः। अतः अथर्ववेदे लिखितमस्ति-

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्त्या व्यैलवाः।।

(अथर्ववेदः- 12.1.41)

मर्त्ये सङ्गीतमाध्यमेननैव मानवाः आनन्दाभिव्यक्तिं कुर्वन्ति। सङ्गीतस्य लक्षणं सङ्गीतरत्नाकरे स्पष्टरूपेण लिखितमस्ति। यथा-

गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं सङ्गीतमुच्यते।।

(सङ्गीततरत्नाकरः- 1.21)

इदानीं बृहत्त्रय्यां सङ्गीतस्य प्राधान्यं विचार्य्यते-

भारवेः किरातार्जुनीये मनोरञ्जनार्थं सङ्गीतस्य भूमिका-

उदितोपलस्खलनसंवलिताः स्फुटहंससारसविरावयुजः।
मुदमस्य माङ्गलिकतूर्यकृतां ध्वनयः प्रतेनुरनुवप्रमपाम्।।

(किरातार्जुनीयम्- 6.4)

भगवान् विष्णुः यथा गरुडोपरि आरोहणं करोति तथा इन्द्रपुत्र अर्जुनः इन्द्रनीलाद्रौ आरोहणं कृतवान्। तदा हंससारसकूजनयुक्ताः उन्नतपाषाणप्रतिघातचूर्णिताः उच्च- स्थानात्पततां जलानां स्वराः अर्जुनस्य मङ्गलकाले तूर्यवाद्यकृतां मङ्गलवाद्यकृतम् आनन्दं जनयामासुः। मङ्गलवाद्याः यथा मङ्गलकाले आनन्दं जनयन्ति तथा अर्जुनस्य आरोहणकाले इन्द्रनीलाद्रिपर्वते उच्चस्थानात्पततां जलानां स्वराः आनन्दं जनयन्ति स्म। अत्र माङ्गलिकतूर्यकृतां ध्वनयः इति संगीतरूपकं मनोरञ्जनं कविना दर्शितम्। तथा-

तदुपेत्य विघ्नयत तस्य तपः कृतिभिः कलासु सहिताः सचिवैः।
हृतवीतरागमनसां ननु वः सुखसङ्गिनं प्रति सुखावजितिः॥

(किरातार्जुनीयम्- 6.43)

अर्जुनस्य तपसः दृढतां दृष्ट्वा इन्द्रः तस्य तपोभङ्गार्थम् अप्सरान् निर्दिशति- अप्सरसः गीतवाद्यादिषु कुशलैः गन्धर्वैः युक्ताः अर्जुनस्य तपश्चरणे विघ्नं कुर्वन्ति। वस्तुतः गन्धर्वाः गीतवाद्यादिसंगीतकलायां कुशलाः। अतः कलासु सहिता इत्यत्र सङ्गीतकलायाः ग्रहणं कविः करोति। यथा-

श्रीमद्भिः सरथगजैः सुराङ्गनानां गुप्तानामथ सचिवैस्त्रिलोकभर्तुः।
सम्मूर्च्छन्नलघु विमानरन्ध्रभिन्नः प्रस्थानं समभिदधे मृदङ्गनादः॥

(किरातार्जुनीयम्- 7.1)

श्लोकेऽस्मिन् कविना इन्द्रस्य गमनं वर्णितम्। रथगजयुतैः सुराङ्गनानां साकम् इन्द्रस्य गमनवेलायां मृदङ्गवाद्यनादः श्रूयते। वाद्यं सङ्गीतस्य एकः अंशः तन्निर्देशेन कविना सङ्गीतरूपकं मनोरञ्जनकतत्त्वम् अत्र निर्दिष्टम्।

माघस्य शिशुपालवधे संगीतरूपकं मनोरञ्जनम्-

मधुकरैरववादकरैरिव स्मृतिभुवः पथिका हरिणा इव।
कलयता वचसः परिवादिनीस्वरजिता रजिता वशमाययुः॥

(शिशुपालवधम्- 6.9)

अरण्ये व्याधः बहुविधगात्रैः विविधवाद्यविशेषैः हरिणचित्ताकर्षणं करोति। तेन मृगाः वशीभूताः भवन्ति। एवमेव भ्रमराणां मधुरगुञ्जनेन कामुकाः वशीभवन्ति। भ्रमराणां शब्दः वीणावाद्यविशेषेण समानो भवति। अतः मनोरञ्जनमत्र सन्निवेशितम्।

कुशेशयैरत्र जलाशयोषिता मुदा रमन्ते कलभा विकस्वरैः।
प्रगीयते सिद्धगणैश्च योषितामुदारमन्ते कलभाविकस्वरैः॥

(शिशुपालवधम्- 4.33)

अस्मिन् श्लोके रैवतकपर्वतसमीपे सिद्धाङ्नाभिः गीयमान-मधुरसंगीतविषये वर्णनं कृतं कविना।

श्रीहर्षस्य नैषधीयचरिते संगीतम्-

शशाक निह्नोतुमनेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम्।
समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चममूर्च्छनासु च।

(नैषधीयचरितम्-1.52)

प्रस्तुते श्लोके मूर्च्छना इति शब्दस्य प्रयोगः कविना कृतः। वस्तुतः मूर्च्छना संगीतस्य पारिभाषिकः शब्दः। सप्तस्वराणां ऐकक्रमानुसारम् आरोहावरोहश्च मूर्च्छना। यथा संगीतरत्नाकरे-

क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम्।
मूर्च्छनेत्युच्यते ग्रामत्रये ताः सप्त सप्त च॥

(सङ्गीतरत्नाकरः, पृ. 103-104)

भूपेषु तेषु न मनागपि दत्तचित्ता
विस्मेरया वचनदेवतया तयाऽथ।
वाणीगुणोदयततृणीकृतपाणिवीणा-
निक्वाणया पुनरभाणि मृगेक्षणा सा॥

(नैषधीयचरितम्- 11.52)

अस्मिन् श्लोके दमयन्ती स्वयं वीणावादनं करोतीति वचनेन दमयन्त्याः संगीते अभिरुचिः प्रदर्श्यते। वस्तुतः संगीतवाद्येषु वीणायाः महत्प्राधान्यं विद्यते। एवं संगीतमाध्यमेन मनोरञ्जनं बृहत्त्रय्यां द्रष्टुं शक्यते।

इदानीं मनोरञ्जनार्थं बृहत्त्रय्यां नाट्यस्य का भूमिका इति विचार्यते।

2. नृत्यम्- सृष्टेः प्रारम्भे नृत्यम्। यथा ऋग्वेदे-

यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत॥ (ऋग्वेदः 10.72.6)

नृत्यम् आनन्दस्य सृष्टिकारकम्। उच्यते यत्-

प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः॥

(ऋग्वेदः 10.18.3)

नृत्यवद् नृत्तमप्येकं तत्त्वम्। द्वयोः मध्ये पार्थक्यं कुर्वता आचार्येण धनञ्जयेन उक्तमस्ति अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम्, नृत्तं काललयाश्रयम् (दशरूपकम्- 1/9)। साहित्यिकाः नृत्यतत्त्वं स्वकीये काव्ये बहुशः प्रतिपादयन्ति। अभिनयदर्पणे नृत्यस्य परिभाषा यथा-

रसभावव्यञ्जनादियुक्तं नृत्यमितीर्यते॥ (अभिनयदर्पणम्- 16)

नाट्यशास्त्रे अस्य प्रयोजनं तु मनोरञ्जनार्थम् इति भरतमुनिना उक्तम्। यथा-

किं तु शोभां प्रजनयेदिति नृत्तं प्रवर्तितम्।
प्रायेण सर्वलोकस्य नृत्तमिष्टं स्वभावतः॥
मङ्गल्यमिति कृत्वा च नृत्तमेतत्प्रकीर्तितम्।
विवाहप्रसवावाह- प्रमोदाभ्युदयारिषु॥

विनोदकरणं चेति नृत्तमेतत्प्रवर्तितम्।

(नाट्यशास्त्रम्-4.264-66)

किरातार्जुनीये नृत्यम्-

ह्रदाम्भसि व्यस्वधूकराहते रवं मृदङ्गध्वनिधीरमुज्झति।
मुहुः स्तनैस्तालसमं समाददे मनोरमं नृत्यमिव प्रवेपितम्॥
(किरातार्जुनीयम्- 8.43)

कविः श्लोकेऽस्मिन् अप्सरसः जलविहारवर्णनं कृतवान्। तालानुगुणं मनोहाहारिस्तनैः नृत्यप्रकम्पः अभवत् इति कविः वर्णयति। भारविः अत्र मनोरञ्जनद्वयं दर्शितवान्। यथा मृदङ्गध्वनिरिति पदेन संगीतं तथा मनोरमं नृत्यमिव इति पदेन नृत्यम् कविना स्वीकृतम्। जलविहारवर्णनं तु पूर्णतया मनोरञ्जनमेवास्ति।

दधत इव विलासशालि नृत्यं मृदु पतता पवनेन कम्पितानि।
इह ललितविलासिनीजनभ्रूगतिकुटिलेषु पयःसु पङ्कजानि॥

(किरातार्जुनीयम्- 5.32)

कमलानि जले कथं नृत्यन्तीति कवेराशयः। मन्दरपर्वते मन्दं वहता वायुना सुन्दरीभ्रूगतिः यथा तथैव कुटिलेषु जलेषु कमलानि सविलासं नृत्यन्ति। एवं किरातार्जुनीये नृत्यमाध्यमेन मनोरञ्जनं प्रतिपादितम्।

शिशुपालवधे नृत्यम्-

जलदपङ्क्तिरनर्तयदुन्मदं कलविलापि कलापिकदम्बकम्।
कृतसमार्जनमर्दलमण्डलध्वनिजया निजया स्वनसम्पदा॥

(शिशुपालवधम्- 6.31)

अत्र मर्दलस्य ध्वन्यपेक्षया मेघगर्जनयुक्तं मयूराणां नृत्यम् आनन्दं जनयतीति कविः कथयति।

नैषधीयचरिते नृत्यम्-

तद्गौरसारस्मितविस्मिदेन्दुप्रभाशिरः कम्परुचोऽभिनेतुम्।
विपाण्डुतामण्डितचामरालीनानामरालीकृतलास्यलीलाम्॥

(नैषधीयचरितम्- 10-105)

अत्र दमयन्त्याः मुखवर्णनं कविः करोति। तस्याः मुखारविन्दस्वच्छतां दृष्ट्वा चन्द्रोऽपि आश्चर्यचकितः सञ्जातः। चन्द्रः स्वयं चिन्तयति ममापि इयं कान्तिः नास्तीति। अतः चन्द्रस्य न्यूनतां

दृष्ट्वा दमयन्त्याः पार्श्वे स्थित्वा हंसिनः सस्मितवचने लास्यलीलां कुर्वन्ति। तत्र नृत्यस्य ताण्डवं लास्यमिति भेदद्वयमस्ति। यथा-

मधुरोद्धतभेदेन तद् द्विविधं पुनः।
लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम्॥ (दशरूपकम्- 1/10)

अतः मधुरनृत्यं भवति लास्यम्। वस्तुतः श्लोकेऽस्मिन् लास्यं द्रष्टुं शक्यते। एवं नृत्यतत्त्वस्य मधुरवणनेन बृहत्त्रय्याँ। यामस्य गुरुत्वपूर्णं स्थानमस्ति।

आलेख्यम् (चित्रम्)-

चतुःषष्टिकलासु चित्रस्य स्थानं सर्वोत्कृष्टं वर्तते। यथा समराङ्गणसूत्रधारे-

चित्रं हि सर्वशिल्पानां मुखं लोकस्य च प्रियम्

(समराङ्गणसूत्रधारः- 51.1)

चित्रमाध्यमेन न तु केवलं मनोरञ्जनम् भवति अपितु धर्मकामार्थमोक्षदं च चित्रमिति प्रमाणयति विष्णुधर्मोत्तरपुराणम्। यथा-

कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थमोक्षदम्।
माङ्गल्यं प्रथमं चैतद्गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्॥

यथा सुमेरुः प्रवरो नगानां यथाण्डजानां गरुडः प्रधानः।
यथा नराणां प्रवरः क्षितीशस्तथा कलानामिह चित्ररूपः॥

(विष्णुधर्मोत्तरपुराणम्- 43.38.39)

अत्र समग्रे विश्वे चित्रमाध्यमेन मनोरञ्जनार्थं चित्रकलाप्रदर्शन्यः अपि भवन्ति।

किरातार्जुनीये चित्रम्-

संक्रान्तचन्दनरसाहितवर्णभेदं
विच्छिन्नभूषणप्रकरांशुचित्रम्।
वद्धोर्मि नाकवनितापरिभुक्तमुक्तं
सिन्धोर्बभार सलिलं शयनीयलक्ष्मीम्॥

(किरातार्जुनीयम्- 8.57)

अस्मिन् श्लोके गङ्गानद्याः जलस्य शोभा कविः चित्रमाध्यमेनैव सूचयति।

शिशुपालवधे चित्रम्-

द्रुतशातकौम्भनिभमंशुमतो वपुरर्द्धमग्नवपुषः पयसि।
व्यरुच द्विरिञ्चिनखभिन्नबृहज्जगदण्डकैकतरखण्डमिव॥

(शिशुपालवधम्- 9.9)

संध्यासमये सूर्यः अस्ताचलशिखरेषु तिष्ठति। अनेन ज्ञायते विनाशसमयेऽपि सज्जनाः उच्चस्तरे एव भवेयुः। वस्तुतः संध्यावर्णनं चित्रकलायाः उत्कृष्टम् उदाहरणं भवति।

चित्राभिरस्योपरि मौलिभाजां भाभिर्मणीनामनणीयसीभिः।
अनेकधातुच्छुरिताश्मराशेर्गोवर्धनस्याकृतिरन्वकारि॥

(शिशुपालवधम्- 3.4)

श्लोकेऽस्मिन् रत्नपण्डितस्य गोवर्धनस्य शोभा चित्रिता।

स इन्द्रनीलस्थलनीलमूर्ती रराज कर्पूरपिशङ्गवासाः।
विसृत्वरैरम्बुरुहां रजोभिर्यमस्वसुश्चित्र इवोदभारः॥

(शिशुपालवधम्- 3.11)

अत्र भगवतः श्रीकृष्णस्य शरीराकृतिवर्णनं कविना कृतम्। यथा इन्द्रनीलमणिसमानः श्यामशरीरः कर्पूरवृक्षसमानः पीतवस्त्रधारी

विकसमानकमलपरागचित्रितयमुनाजलरसेन सः समानतया शोभते। अनेन प्रकारेण श्रीकृष्णस्य शरीरशोभां कविः चित्रप्रतिभया एव वर्णयति।

नैषधीयचरिते चित्रम्-

द्विकुण्डली वृत्तसमाप्तिलिप्तयाः करांगुली काञ्चनलेखनीनाम्।
कैश्यं मसीनां स्मितभाः कठिन्याः काये यदीये निरमायि सारैः॥

(नैषधीयचरितम्- 10.87)

श्लोकेऽस्मिन् सरस्वत्याः सौन्दर्यवर्णनं कुर्वन् तस्याः कुण्डलीद्वयं वृत्तसमाप्तिसूचकः विसर्गः, सुवर्णलेखन्यः तस्य अङ्गुल्यः, लेखन्यां विद्यमानमषी स्वकेशाः मसीति कविः वर्णयति। अत्र लेखन्यादिसहिता सरस्वती सुष्ठु अभिवर्णिता। ण्वं चित्रकलायाः सम्पूर्ण चित्रम् अस्माभिः द्रष्टुं शक्यते।

पुरे पथिद्वारगृहाणि तत्र चित्रीकृतान्युत्सववाञ्छयैव।
नभोऽपि किर्मीरमकारि तेषां महीभुजामाभरणप्रभाभिः॥

(नैषधीयचरितम्- 10.31)

कुण्डिनीपुर्यां विवाहोत्सवाभिलाषेण पन्थानः द्वाराणि गृहाणि च अतीव रमणीयतया चित्रितानि। तथा च तत्र अभ्यागतानां सामन्तराज्ञाम् अलंकृताभूषणप्रभाभिः आकाशमार्गोऽपि चित्रविचित्रतः सञ्जातः। इतः तदानीन्तनराजानः कथं चित्रकलायाः सम्मानं दत्तवन्तः तथा काव्ये चित्रस्य विनियोजनं कृत्वा काव्यमहत्त्वं कथं द्विगुणितं भवति तदपि ज्ञातुं शक्यते। तथा च-

विरहपाण्डिमरागतमोमषीशितिमतन्निजपीतिमवर्णकैः।
दश दिशः खलु तद्दृगकल्पयल्लिपिकरी नलरूपकचित्रिता॥

(नैषधीयचरितम्- 4.15)

अत्र वियोगेन पीडिता दमयन्ती पाण्डुरा सञ्जाता। अतः दिशः भित्तिरूपेण मत्वा स्वप्रियस्य नलस्य चित्रं चित्रितवती दमयन्ती। एवं नैषधे श्रीहर्षः चित्रमाध्यमेन सहृदयानां मनोरञ्जनं करोति।

उपसंहारः-

वस्तुतः बृहत्त्रय्यां बह्व्यः मनोरञ्जनप्रक्रियाः सन्ति। साहित्यस्य सुमधुरवर्णनम्, शिल्पशास्त्रस्य विनियोजनम्, हास्यरसमाध्यमेन हासोत्पादनं तथा च अनेके विषयाः द्रष्टुं शक्यन्ते। स्थाने स्थाने त्रिष्वपि महाकाव्येषु विविधानां क्रीडानां, क्रीडनकानाम्, उत्सवानाम्, उत्सवसाधनानां, प्रतियोगितादीनाञ्च वर्णनं प्राप्यते। एवं प्रकारेण बृहत्त्रयी साहित्यजगति स्वप्रतिष्ठामर्जयति अग्रेऽपि अर्जयिष्यतीति नास्त्यत्र सन्देहस्यावकाशः।

।।इति।।

किरातार्जुनीय एवं शिशुपालवध महाकाव्यों में प्रतिपादित संस्कृति

–प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय

''माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे।
स्मरन्तो भारवेरेव कवयः कपयो यथा।।'' (धनपाल)

अर्थात् जिस प्रकार माघ महीने की ठंडक में भगवान् भास्कर का सेवन करने पर भी बानर चलने-फिरने में असमर्थ हो जाते हैं उसी प्रकार माघ कवि की पदावली देखकर कवियों का उत्साह समाप्त हो जाता है चाहे वे भारवि की पदरचना का कितना भी स्मरण करें। अर्थात् माघ के सामने कवियों की दशा माघ मास में कपियों जैसी है। धनपाल की यह उक्ति माघ के कवित्व की प्रशंसा में है। भारवि की अपेक्षा माघ का कवित्व उत्कृष्ट है। समीक्षकों में यह सर्वविदित है कि माघ ने भारवि को कविता के क्षेत्र में पछाड़ा है। किसी ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है-

'तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।'

कवियों की यह तुलना और उसका उक्त प्रकार से निष्कर्ष किसी एकाङ्गी समीक्षा से संभव नहीं है। दोनों कवियों की काव्यरचनाचातुरी का चतुरस्र समीक्षण करने के अनन्तर ही इस प्रकार की उक्तियाँ सहृदय समाज में समादृत हो सकती हैं।

प्रस्तुत निबन्ध द्वारा किरातार्जुनीय एवं शिशुपालवध महाकाव्यों में वर्णित संस्कृति की समीक्षा ही मेरा ध्येय है। यद्यपि बहुत लोग मानते हैं कि भारवि शैव थे तथा माघ वैष्णव। संस्कृतिचेतना से आप्यायित होकर अपने पूर्ववर्ती भारवि से बढ-चढ कर काव्यरचना के उद्देश्य से

शिशुपालवधमहाकाव्य की रचना माघ ने की। दोनों काव्यों में समानता के अनेक बिन्दु इस मान्यता की पुष्टि करते हैं, किन्तु कुछ ऐसी विशेषताएँ भी हैं जो माघ को उत्कृष्टतर श्रेणी में प्रतिष्ठित कर देती हैं। भारवि में जहाँ राजनीति पटुता का उत्कर्ष दिखायी देता है वहीं माघ में सर्वशास्त्रों के परिनिष्ठित पाण्डित्य का परमोत्कर्ष परिलक्षित होता है। यह सत्य है कि कवि जिस संसार को अपनी कविता के माध्यम से पाठक के समक्ष प्रस्तुत करता है उसमें जहाँ एक ओर मुख्य कथ्य की सरिता प्रवाहित होती है वहीं दूसरी ओर अनेक गौण तथ्य उस प्रवाह की चारुता के निमित्त बनते हैं। किसी भी समाज का चित्रण उसकी संस्कृति के बिना सम्भव नहीं है। इसीलिए साहित्य समाज का दर्पण कहा जाता है। संस्कृति के अन्तर्गत वस्तुतः समाज के व्यवहार का विश्लेषण होता है जो अत्यन्त सूक्ष्म एवं भावनात्मक होता है। संस्कृति का निर्माण समाज द्वारा ही होता है तथापि यह प्राचीन होती है और समाज की धरोहर होती है। समाज के समस्त व्यवहार जगत्, सभ्यता, साहित्य एवं कलाओं से संस्कृति की पहचान होती है। ये सभी तत्त्व कविता की चारुता के मौलिक तत्त्व हैं, क्योंकि कवि सहजरूप में इनसे प्रभावित रहता है। किरातार्जुनीय एवं शिशुपालवध महाकाव्य में भी इसी प्रकार संस्कृति के अनेक तत्त्व विद्यमान हैं जिनमें से कुछ बिन्दुओं का संक्षेपतः यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

इन दोनों महाकाव्यों में जिस संस्कृति एवं सभ्यता का निरूपण हुआ है वह भारत के तात्कालिक विकसित समाज का द्योतक है। दोनों ही काव्यों की मूल कथा का स्रोत महाभारत है। अतः महाभारतकालिक संस्कृति दोनों ही महाकाव्यों में परिलक्षित है किन्तु कवि के काल भेद से उनमें कुछ विशेषताएँ भी हैं। यहाँ एकैकशः दोनों महाकाव्यों की सांस्कृतिक विशेषताओं की चर्चा करना उपयुक्त होगा।

आदर-सत्कार एवं अतिथि प्रेम-

'अतिथिदेवो भव' का उद्घोष करने वाला भारतवर्ष अपने उषःकाल से ही अतिथि प्रेमी रहा है और यह तथ्य भारवि ने अपने

महाकाव्य में बहुत अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया है। प्रसङ्ग वेदव्यास जी के आगमन का है-

अवहितहृदयो विधाय सोऽर्हामृषिवदृषिप्रवरे गुरूपदिष्टाम्।
तदनुमतमलञ्चकार पश्चात् प्रशम इव श्रुतमासनं नरेन्द्रः॥

(किरात. 2.58)

मुनि वेदव्यास के उपस्थित होने पर युधिष्ठिर उठ खड़े होते हैं और शास्त्रीय विधि से अतिथि की पूजा करते हैं। मुनि की आज्ञा प्राप्त कर ही आसन ग्रहण करते हैं। युधिष्ठिर अत्यन्त आदर भाव से मुनि के आगमन का प्रयोजन जानना चाहते हैं। वे कहते हैं 'पुण्यसंचय के अभाव में आपका दर्शन दुष्प्राप्य है। आप निस्पृह हैं आपके आगमन का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता, फिर भी हम सबका कल्याण करने वाली आपकी वाणी सुनने की मेरी अभिलाषा है'-

अनाप्तपुण्योपचयैर्दुरापा फलस्य निर्धूतरजाः सवित्री।
तुल्या भवद्दर्शनसम्पदेषा वृष्टेर्दिवो वीतवलाहकायाः॥

(कि. 3.5)

निरास्पदं प्रश्नकुतूहलत्वमस्मास्वधीनं किमु निस्पृहाणाम्।
तथापि कल्याणकरीं गिरं ते मां श्रोतुमिच्छा मुखरीकरोति॥

(कि. 3.9)

श्रेष्ठ एवं पूज्य जनों के प्रति शिष्टता का यह भाव तात्कालिक समाज की एक प्रमुख विशेषता है। ऋषिप्रधान भारतीय संस्कृति में ऋषियों, मुनियों की निःस्वार्थ समाजकल्याण-भावना भारतीय वाङ्मय में विद्यमान है। महाकवि भारवि ने उसी उदात्त भावना से इस बिन्दु को अपने काव्य में स्थान दिया, जो कि तात्कालिक सांस्कृतिक स्थिति का द्योतक है। शिशुपालवध महाकाव्य में भी अतिथियों के आदर सत्कार का बहुत सुन्दर निरूपण है। देवर्षि नारद जब श्रीकृष्ण भगवान् के पास

उपस्थित होते हैं तो श्रीकृष्ण जी भी अपने आसन से खड़े होकर अर्घ्यादि द्वारा विधिवत् उनकी पूजा करते हैं-

पतत्पतङ्गप्रतिमस्तपोनिधिः पुरोऽस्य यावन्न भुवि व्यलीयत।
गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकैर्जवेन पीठादुदतिष्ठदच्युतः।।

तमर्घ्यमर्घ्यादिकमादिपूरुषः सपर्यया साधु स पर्यपूपुजत्।
गृहानुपैतुं प्रणयादभीप्सवो भवन्ति नापुण्यकृतां मनीषिणः।।

(शिशु. 1.12,14)

इस प्रकार दोनों ही काव्यों में अतिथि के आदर-सत्कार की भावना का सुन्दर प्रतिपादन है। दोनों ही काव्यों में अतिथियों की शास्त्रीय विधि से पूजा का वर्णन है। दोनों ही काव्यों में ऋषियों-मुनियों को निःस्वार्थ समाजकल्याण में निरत कहा गया है।

वर्णाश्रमव्यवस्था के प्रति आदरभाव-

किरातार्जुनीयमहाकाव्य में यद्यपि वर्णाश्रम का विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं होता है किन्तु अनेक संकेतक प्रसङ्ग प्राप्त होते हैं- जैसे प्रथमश्लोक में **'वर्णिलिङ्गी'**[1] शब्द, कामनारहित मुनिजन द्वारा कामक्रोधादि शत्रुओं के दमन से सिद्धि प्राप्ति का उल्लेख-**व्रजन्ति शत्रूनवधूय निस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः।।**[2] जटा बढाकर हवनादि का अनुष्ठान-**विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम्।।**[3] ब्राह्मण भुक्तावशिष्टान्न से रमणीय शरीर- **पुरोपनीतं नृप रामणीयकं द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा। तदद्य ते वन्यफलाशिनः परं परैति कार्श्यं यशसा समं वपुः।।**[4] ब्राह्मणों के द्वारा छिन्न कुशाग्र-**अनारतं यौ मणिपीठशायिनावरञ्जयद्राजशिरः स्रजां रजः। निषीदतस्तौ चरणौ वनेषु ते मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम्।।**[5] सम्पूर्णकामनाओं का पूरक यज्ञानुष्ठान, ब्राह्मणों के आशीर्वाद का सत्य होना-**अद्य क्रिया कामदुधाः क्रतूनां सत्याशिषाः सम्प्रति भूमिदेवाः।। आसंसृतेरस्मि जगत्सु जातस्त्वय्यागते यद् बहुमानपात्रम्।।**[6], सज्जनों की रक्षा करने में जो

समर्थ है वह क्षत्रिय है–**'स क्षत्रियस्त्राणसहः सतां यस्तत्कार्मुकं कर्मसु यस्य शक्तिः।**[7] आश्रमानुक्रम–**कथं वादीयतामर्वाङ्मुनिता धर्मरोधिनी। आश्रमानुक्रमः पूर्वैः स्मर्यते न व्यतिक्रमः।।**[8] आदि।

शिशुपालवधमहाकाव्य में वर्णाश्रम के प्रति आदरभाव अधिक स्पष्टरूप से वर्णित है। चौदहवें सर्ग में यज्ञ के अवसर पर राजा युधिष्ठिर ने बाह्मणों द्वारा शुद्ध वेद सम्मत शास्त्रों को सुना। इस अवसर पर आश्रमों के नियन्ता राजा युधिष्ठिर यज्ञ को देखने आये हुए ब्राह्मणों का आतिथ्य करने में श्रान्त नहीं हुए–

शुद्धमश्रुतिविरोधि बिभ्रतं शास्त्रमुज्ज्वलमवर्णसङ्करैः।
पुस्तकैः सममसौ गणं मुहुर्वाच्यमानमशृणोद्द्विजन्मानाम्।।

तत्प्रतीतमनसामुपेयषां द्रष्टुमाहवनमग्रजन्मनाम्।
आतिथेयमनिवारितातिथिः कर्तुमाश्रमगुरुः स नाश्रमत्।।

(शिशु. 14.37,38)

यहाँ पर प्रयुक्त 'आश्रमगुरुः' शब्द जिसका अर्थ मल्लिनाथ ने आश्रमनियन्ता किया है, वर्णाश्रम के प्रति आदर–भाव को व्यक्त करने में पूर्णतः समर्थ है। इसी प्रकार का एक संकेत किरातार्जुनीय का उल्लेखनीय है जब अर्जुन अपने आप को वर्णाश्रम का रक्षक कहते हैं–

वयं क्व वर्णाश्रमरक्षणोचिताः
क्व जातिहीना मृगजीवितच्छिदः।
सहापकृष्टैर्महतां न संगतं
भवन्ति गोमायुसखा न दन्तिनः।। (कि. 14.22)

इससे स्पष्ट है कि दोनों महाकाव्यों में वर्णाश्रमव्यवस्था के प्रति आदरभाव समान रूप से विद्यमान है किन्तु माघ की कविता में भारवि की अपेक्षा किञ्चित् विस्तार को प्राप्त करके प्रतिष्ठित है।

गुरु के प्रति पूज्य भाव-

भारतीय संस्कृति में गुरु का अतिमहत्त्वपूर्ण स्थान है। किरातार्जुनीय तथा शिशुपालवध में गुरु-शिष्य के सम्बन्ध की मधुरता स्पष्टत: दिखाई देती है। शिष्य गुरु के समक्ष अति विनम्रभाव से रहता है। युधिष्ठिर के कहने पर अन्तेवासी की तरह अर्जुन व्यासमुनि के समक्ष उपस्थित होता है-

इत्युक्तवन्तं व्रज साधयेति प्रमाणयन्वाक्यमजातशत्रोः।
प्रसेदिवांसं तमुपाससाद वसन्निवान्ते विनयेन जिष्णुः॥

(कि. 3.24)

गुरु शिष्य की श्रेष्ठता की कामना करता था और उससे पराजित होने पर भी प्रसन्न होता था-

त्रिसप्तकृत्वो जगतीपतीनां हन्ता गुरुर्यस्य स जामदग्न्यः।
वीर्यावधूतः स्म तदा विवेद प्रकर्षमाधारवशं गुणानाम्॥

(कि. 3.18)

दुर्योधन स्वयं गुरूपदिष्टशास्त्रानुसार दण्ड़विधान में दक्ष था-

गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम्॥ (कि. 1.13)

शिशुपालवधमहाकाव्य में भी 13वें सर्ग में एक उल्लेखनीय प्रसङ्ग है जब पाण्डव, गुरु के समीप शिष्य की भाँति भगवान् श्रीकृष्ण के समीप उपस्थित होते हैं-

मुदितैस्तदेति दितिजन्मनां रिपावविनीतसम्भ्रमविकासिभक्तिभिः।
उपसेदिवद्भिरुपदेष्टरीव तैर्ववृते विनीतमविनीतशासिभिः॥

(शिशु. 13.24)

शकुन एवं अपशकुन सम्बन्धी अवधारणा-

भारतीय संस्कृति में शकुन एवं अपशकुन की परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। किरातार्जुनीय के तीसरे सर्ग में अर्जुन को विदा करते समय द्रौपदी अमङ्गल की आशङ्का से आँखों में भरे हुए अश्रु कणों को प्रयत्नपूर्वक गिरने नहीं देती है।-

तुषारलेखाऽऽकुलितोत्पलाभे पर्यश्रुणी मङ्गलभङ्गभीरुः।
अगूढभावाऽपि विलोकने सा न लोचने मीलयितुं विषेहे॥

(कि.3.36)

इसी प्रकार चौदहवें सर्ग में किरातसेना के प्रस्थान के समय अनुकूल सुगन्धित शीतल पवन का प्रवाहित होना शुभ का सूचक है।-

रणाय जैत्रः प्रदिशन्निव त्वरां तरङ्गितालम्बितकेतुसंततिः।
पुरो बलानां सघनाम्बुशीकरः शनैः प्रतस्थे सुरभिः समीरणः॥

(कि.14.28)

शिशुपालवधमहाकाव्य में भी शिशुपाल के सैनिकों की पत्नियाँ अमङ्गल की आशंका से आखों से अश्रुकण गिरने नहीं देती हैं किन्तु वलयपतन रूपी अमङ्गल को नहीं जान पाती हैं।-

न मुमोच लोचनजलानि दयितजयमङ्गलैषिणी।
यातमवनिमवसन्नभुजान्न गलद्विवेद वलयं विलासिनी॥

(शिशु.15.85)

'हे पिताजी, तुम कहाँ जा रहे हो' ऐसा बालक के प्रश्न को सुनकर युद्ध में जाते हुए शूरवीर का धैर्य अमङ्गल की आशंका से टूट जाता है।-

व्रजत क्व तात व्रजसीति परिचयगतार्थमस्फुटम्।
धैर्यमभिनदुदितं शिशुना जननीनिर्भर्त्सनविवृद्धमन्युना॥

(शिशु.15.93)

वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति अनुराग-

किरातार्जुनीय एवं शिशुपालवध महाकाव्य वैदिक संस्कृति की परम्परा के काव्य हैं अतः यज्ञ-यागादि के प्रति श्रद्धा का भाव दोनों ही कवियों में दिखाई देता है। किरातार्जुनीय में यज्ञानुष्ठान का कोई प्रसङ्ग निबद्ध नहीं किया गया है किन्तु दुर्योधन को निर्बाध यज्ञकर्त्ता बताया गया है-

स यौवराज्ये नवयौवनोद्धतं
निधाय दुःशासनमिद्धशासनः।
मखेष्वखिन्नोऽनुमतः पुरोधसा
धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम्।। (कि.1.22)

द्रौपदी युधिष्ठिर से कहती है कि क्षमा ही यदि धारण करना है तो धन्वा फेंककर जटा धारण कर अग्नि में आहुति दीजिए।

अथ क्षमामेव निरस्तविक्रमश्चिराय
पर्येषि सुखस्य साधनम्।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं
जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम्।। (कि.1.44)

महाकवि माघ ने पन्द्रहवें सर्ग में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के शास्त्रीय विधि से आयोजन का निरूपण किया है- **(शिशु.15.18-52)**

कला एवं साहित्य-

समाज के सांस्कृतिक पक्ष का निरूपण उस समाज की कला और साहित्य के विना सम्भव नहीं है। वस्तुतः कला और साहित्य मानवचिन्तन एवं उसकी रुचि और समृद्धि के सूचक हैं। इसके अनुशीलन से तत्कालीन मानव जीवन का स्तर द्योतित होता है।

भारवि ने इन कलाओं एवं शिल्पों का वर्णन नहीं किया है किन्तु उनकी काव्यगत शैली से तात्कालिक कलावादिता का परिज्ञान होता है। सहृदय का रुझान कलात्मक रचनाओं के प्रति बढने लगी थी।

गोमूत्रिका बन्ध–कि.15.12, एकाक्षरी–कि.15.14 रचना इसके प्रमाण हैं।

माघ ने भी भारवि की भाँति काव्यगत, कलात्मक प्रवृत्ति का आश्रय लिया और मुरज- शिशु.19.29, गोमूत्रिका- शिशु.19.46 बन्धों का प्रयोग किया है। भारवि की अपेक्षा माघ की रचना में कला के प्रति आकर्षण अधिक दिखाई देता है, विशेषतः शिल्पकला। द्वारकापुरी की दीवारें इतनी चिकनी हैं कि ऊपर चित्र बनाना सम्भव नहीं हैं अतः प्रतिबिम्ब से सजीव चित्र बन जाते हैं–[9] द्वारकापुरी की कपोतपालिकाओं पर चित्रित कपोत पर बिलाव आक्रमण करने की इच्छा करते हैं क्योंकि वे उन्हें वास्तविक प्रतीत होते हैं–

चिक्रंसया कृत्रिमपत्रिपङ्क्तेः कपोतपालीषु निकेतनानाम्।
मार्जारमप्यायतनिश्चलाङ्गं यस्यां जनः कृत्रिममेव मेने॥

(शिशु.3.51)

भारवि में संगीतविषयक वर्णन का प्रायः अभाव है। उन्होंने एक स्थान पर दधिमन्थन करती गोपियों के दधिभाण्ड से निकलने वाली ध्वनि की मृदङ्गध्वनि से उत्प्रेक्षा की है।[10] माघ ने तो नारद जैसे ऋषि जो संगीतविद्याा के आचार्य हैं को काव्यपात्र बनाया है। उनकी महती वीणा सदैव निनादित रहती है।[11] प्रातः काल वन्दीजनों का मधुर गायन[12] किरात में गन्धर्वो द्वारा मधुरवीणा वादन[13] आदि प्रसङ्ग इस बात का संकेत करते हैं कि माघ और भारवि के काव्य में संगीत प्रियता का प्रभाव दिखाई देता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह कहा जा सकता है कि किरातार्जुनीय एवं शिशुपालवध महाकाव्यों में वैदिक संस्कृति का निरूपण है जो कि शिवपुराण और महाभारत के माध्यम से इन काव्यों के वर्णन में आरेखित हैं। समान संस्कृति होने पर कवि के रचना नैपुण्य एवं काल भेद के कारण थोड़ी वर्णनात्मक भिन्नता दिखाई देती है। माघ के शिशुपालवध में भारवि के किरातार्जुनीय की अपेक्षा इन विषयों का किञ्चिद् विस्तार के साथ वर्णन है। अन्यथा दोनों महाकाव्यों में भारतीय संस्कृति का प्रेरक

और जीवन्त स्वरूप कहीं सहृयहृदयसंवेद्यवर्णनों में कहीं अर्थान्तरन्यास दृष्टान्त अलङ्कारों और सूक्तियों में सुस्पष्ट रूप में विन्यस्त है। दोनों महाकवि अपनी प्रवृत्ति कथ्य और रचना सिद्धान्त को कण्ठतः भी उपात्त करते हैं। यथा भारवि-

इयमिष्टगुणायरोचतां रुचिरार्था भवतेऽपि भारती।।

(कि.2.5)

संस्कारवत्त्वाद्रमयत्सु चेतः प्रयोगशिक्षणभूषणेषु।
अयं यथार्थेषु शरेषु पार्थः शब्देषु भावार्थमिवाशशंसे।।

(कि.17.6)

उत्तरवर्ती आचार्य मम्मट जिस कान्तासम्मित उपदेश का काव्यप्रयोजन में उल्लेख करते हैं और वैदिकवाङ्मय जिस 'आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी जायताम्' का उद्घोष करता है उसे युधिष्ठिर की कान्ता द्रौपदी के कथनों में जीवन्त रूप में किरातार्जुनीय में प्रथम सर्ग के उत्तरार्ध में भारवि विन्यस्त करते हैं। भारवि कथावस्तु से सम्पृक्त कर भारतीय संस्कृति के साथ कवियों के वर्ण्यविषयों की आचारसंहिता भी आरेखित करते हैं जो माघ और श्रीहर्ष के उत्कृष्टतर कलात्मक वस्तुविन्यास समन्वित महाकाव्य सर्जन के प्रेरणा स्रोत हैं-

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती।।

(कि.14.3)

भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां
मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये।
नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणा
गभीरमर्थं कतिचित्प्रकाशताम्।। (कि.14.4)

भारवि सुस्पष्ट रूप से काव्य का प्रयोजन भी व्यक्त करते हैं जो भारतीय संस्कृति के तत्त्व के रूप में मान्य हैं-

श्रियः विकर्षत्यपहन्त्यघानि श्रेयः
परिस्नौति तनोति कीर्तिम्।
सन्दर्शनं लोकगुरोरमोघं तवात्म-
योनेरिव किं न धत्ते॥ (कि.3.6)

इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्यं मनः समाधाय जयोपपत्तौ।
उदारचेता गिरमित्युदारां द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्रः॥

(कि.3.6)

उसी प्रकार माघ भी पुरुषार्थ और सत्कवि की अपेक्षा को पुनर्व्याख्यायित करते हुए कहते हैं-

नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते॥ (शि.2.86)

भारतीय शास्त्रों के सूत्रात्मक कथन की व्याप्ति का प्रायोगिक पल्लवन करने की दृढ़ अवधारणा वाले महाकवि माघ कहते हैं-

परितः प्रमिताक्षराऽपि सर्वं विषयं व्याप्तवती गता प्रतिष्ठाम्।
न खलु प्रतिहन्यते कुतश्चित्परिभाषेव गरीयसी यदाज्ञा॥

(शि.16.80)

भावशुद्धि जो भारतीय संस्कृति का मूल है, व्यङ्ग्यमभङ्ग्या माघ इस ओर सङ्केत करते हैं-

स्वादयन् रसमनेकसंस्कृतप्राकृतैरकृतपात्रसङ्करैः।
भावशुद्धिसहितैर्मुदंजनो नाटकैरिव बभारभोजनैः॥

(शि.14.80)

'नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि' विश्वकोष के अनुसार नेता या नायक समाज को आगे ले जाता है, आदिकवि वाल्मीकि का अभीप्सित **'कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके...'** की अन्विति सभी महाकाव्यों के नायकों में अन्वित है महाकवि माघ भी इस तथ्य को आरेखित करते हैं-

यातव्यपार्ष्णिग्राहादिमालायामधिकद्युतिः।

एकार्थतन्तुप्रोतायां नायको नायकायते॥ (शि.2.92)

इस तथ्य की उद्भावना उनके महाकाव्य नायक श्रीकृष्ण में चरितार्थ हुई है, जिसमें भारतीय संस्कृति कलात्मक और प्रेरक रूप में उपन्यस्त है।

इस प्रकार भारवि और माघ भारतीय संस्कृति के महान उद्गाता कवि के रूप में उदात्त जीवन मूल्यों की अभिप्रेरणा प्रदान करने में सफल हुए हैं, इसमें सन्देह नहीं है।

---

1. किरातार्जुनीयम्, 1.1
2. किरातार्जुनीयम्, 1.42
3. वही, 1.44
4. वही, 1.39
5. वही, 1.40
6. किरातार्जुनीयम्, 2.6
7. किरातार्जुनीयम्, 2.6
8. किरातार्जुनीयम्, 11.76

किरातार्जुनीय और शिशुपालवध महाकाव्य में दण्डनीति

–प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी

हरं नौमि हरिं चापि व्यासं सत्यवतीसुतम्।
देवर्षिं नारदं चैव भारविं माघसंयुतम्।।1।।

किरातं प्रथमं वन्दे माघकाव्यमनन्तरम्।
ययोर्वस्तु समाश्रित्य शोधपत्रं प्रकल्पितम्।।2।।

उपायेषु चतुर्थस्तु दण्डोऽयं प्रभुविग्रहः।
मृदुश्चापि कठोरो वा मर्यादाविधिरक्षकः।।3।।

दुष्टापराधिनस्सर्वे शत्रवोऽपि समन्ततः।
दण्ड्याः दण्डभयेनैव नियम्यन्तेऽल्पबुद्धयः।।4।।

आचार्यैः स्मृतिकारैश्च दण्डनीतिर्व्यवस्थिता।
ततोऽन्यैः काव्यकारैश्च यथायोग्यं प्रयोजिता।।5।।

किराते माघकाव्येऽपि प्रसङ्गस्यानुरोधतः।
प्रयुक्ता दण्डनीतिः सा शिष्टवाचा विराजते।।6।।

ताभ्यामेव समादाय ह्यत्र किञ्चिद्विमृश्यते।
यथातथ्यं भवेत्कथ्यं पथ्यं मथ्यं समीहितम्।।7।।

सर्वप्राचीन वाङ्मय वेद में 'दण्ड' शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। इस शब्द का प्रारम्भिक अर्थ 'डण्डा' या 'छडी' है। ऋग्वेद (7.33.6) में आये 'गो-अजनासः' का अर्थ है गाय (अथवा पशु) हांकने का

डण्डा। ऐतरेय ब्राह्मण (2.35) और शतपथब्राह्मण (1.5.4.6) के अनुसार 'दण्ड' शब्द शस्त्र के अर्थ में भी प्रयुक्त है। यज्ञीय दीक्षा के अवसर पर भी एक व्यक्ति 'दण्ड' लेकर खडा होता था ताकि विघ्नकारक दानवादि को दूर भगा सके–"शतपथ ब्राह्मण, 3.2.1.32"। उपनयन संस्कार में तो 'दण्ड' का उपयोग होता ही था और आज भी है। उसके प्रमाण हमें गृह्यसूत्रों में प्राप्त होते हैं– "पारस्करगृह्यसूत्र, 2. 2.11-12, आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, 1.19.1.22, शांखायनगृह्यसूत्र, 2.1.6. 11"

'दण्ड' अपने मूल अर्थ का त्याग न करते हुए कालान्तर में अधिकार, शक्ति और सामर्थ्य का सूचक हो गया। ब्राह्मणों (विशेषत: ऋषियों और संन्यासियों) ने 'ब्रह्मदण्ड' धारण किया तो राजर्षियों ने भी दण्ड के साथ राजदण्ड भी धारण किया। यह राजदण्ड 'सजा' के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा। पारस्कर गृह्यसूत्र (3.15) में प्रयुक्त 'राजप्रेषितो दण्ड:' इसी अर्थ का द्योतक है। शतपथ ब्राह्मण (5.4.4.7) में राजा के अदण्ड्य होने तथा दण्डवध का अधिकारी होने का उल्लेख है। धर्म की अवधारणा के अस्तित्व में आने और न्याय-व्यवस्था के साथ ही 'दण्ड' उनका अङ्ग बन कर उनसे सम्बद्ध हो गया। किसी भी अपराध में प्रायश्चित्त के साथ ही सजा या दण्ड का विधान किया जाने लगा। इसके भी पर्याप्त और पुष्ट प्रमाण हमें वैदिक एवं पौराणिक वाङ्मय में प्राप्त होते हैं।[1]

श्रुतियों का अनुसरण करने वाली स्मृतियों ने भी दण्ड के सम्बन्ध में व्यापक विमर्श करते हुए दण्डनीति का प्रवर्तन किया है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है कि दमन करने वालों में मैं 'दण्ड' हूँ- "दण्डो दमयितामस्मि नीतिरस्मि जिगीषिताम्।"– श्रीमद्भगवद्गीता, 10.38। मनुस्मृति के सप्तम एवम् अष्टम अध्याय में 'दण्डनीति' विषयक व्यापक विचार प्रस्तुत किया गया है। महाभारतकार ने दण्डनीति को परिभाषित करते हुए कहा है–

दण्डेन नीयते चेयं दण्डं नयति या पुनः।
दण्डनीतिरिति ख्याता त्रींल्लोकानभिवर्तते।।

महाभारत, शान्तिपर्व, 59-78

अर्थात्, यह संसार दण्ड के द्वारा सन्मार्ग पर लाया जाता है अथवा, यह शास्त्र दण्ड देने की व्यवस्था करता है, इसी से यह 'दण्डनीति' के नाम से प्रसिद्ध है और यह तीनों लोकों को अभिव्याप्त करके स्थित है। शुक्रनीति और नीतिसार में भी दण्ड तथा दण्डनीति को व्याख्यायित किया गया है-

दमो दण्ड इति ख्यातस्तात्स्थ्याद् दण्डो महीपतिः।
तस्य नीतिर्दण्डनीतिर्नयनान्नीतिरुच्यते।।

शुक्रनीति, 1.157 तथा नीतिसार, 2.15

अर्थात्, दम (=दमन=नियन्त्रण=शासन) को दण्ड कहा जाता है। राजा को भी 'दण्ड' इसीलिए कहा जाता है क्यों कि शासन उसमें केद्रित है। दण्ड की नीति या नियमों को दण्डनीति कहते हैं और 'नीति' यह संज्ञा (लोगों को सही रास्ते पर) ले चलने के कारण है। महाभारत में दण्डनीति को राजधर्म से सम्पृक्त कर दिया गया है और कहा गया है कि दण्डनीति क्षत्रिय (=राजा) का विशिष्ट व्यापार है।[2] वहीं पुनः कहा गया है कि दण्डनीति, अपने अपने धर्म के पालन में चातुर्वर्ण्य को नियन्त्रित करती है-

दण्डनीतिः स्वधर्मेभ्यश्चातुर्वर्ण्य नियच्छति।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यो नियच्छति।।

महाभारत, शान्तिपर्व, 69.76

दण्डनीति के अभाव में संसार मर्यादाओं के सारे बन्धन तोड़ डालेगा। अतः दण्डनीति ही समस्त विश्व का आश्रय है और इसे भगवती सरस्वती ने उत्पन्न किया है।[3]

आचार्य कौटिल्य ने दण्डनीति की गणना चार विद्याओं में की है- 'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः।[4] मनु ने दण्डनीति के साथ तीन तथा बृहस्पति ने दण्डनीति के साथ दो विद्याएँ स्वीकार की हैं[5], जबकि शुक्राचार्य दण्डनीति को ही एक मात्र विद्या माने हैं- 'दण्डनीतिरेका विद्येत्यौशनसाः।'[6] कौटिल्य ने दण्ड और दण्डनीति के सम्बन्ध में अपना मत स्पष्टता के साथ व्यक्त किया है-

'आन्वीक्षिकीत्रयीवार्तानां योगक्षेम-
साधनो दण्डः, तस्य नीतिर्दण्डनीतिः।
अलब्धलाभार्था लब्धपरिरक्षणी रक्षित
विवर्धिनी वृद्धस्य तीर्थे प्रतिपादनी च॥'

कौटिल्य अर्थशास्त्र, 1.4.3

अर्थात्, आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता इन तीन विद्याओं के योग-क्षेम का साधन दण्ड है। उस दण्ड का समुचित प्रतिपादन करने वाली नीति दण्डनीति है। यह अप्राप्त को प्राप्त कराने वाली, प्राप्त का रक्षण, रक्षित का संवर्धन और संवर्धित का उपयुक्त पात्र में विनियोग कराने वाली है।

कौटिल्य की मान्यता है कि दण्डनीति पर ही लोकयात्रा (जीवन निर्वाह) निर्भर है।[7] अत एव राजा सदा उद्यतदण्ड रहे।[8] यथोचित दण्ड विधायी राजा ही पूजित होता है- 'यथार्हदण्डः पूज्यते।'[9] मनुस्मृतिकार ने भी ऐसा ही कहा है- 'दण्डं दण्ड्येषु पातयेत्।'[10] महाकविकालिदास की मान्यता है कि जो जैसा अपराध करे, उसे वैसा ही दण्ड दिया जाय- 'यथापराधदण्डानाम्।'[11] कौटिल्य ने कहा है कि सम्यग्ज्ञानपूर्वक प्रयुक्त दण्ड प्रजा को धर्म, अर्थ और काम से योजित करता है।[12] "सुविज्ञातप्रणीतो हि दण्डः प्रजा धर्मार्थकामैर्योजयति।" समुचित दण्ड से रक्षित राजा प्रभावशाली होता है।[13] अमरकोश के अनुसार, राजा का प्रभाव और प्रताप उसका वह तेज है जो कोष और दण्ड से उत्पन्न होता है- 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोषदण्डजम्।'

इसीलिए राज्य के सप्ताङ्गों में दण्ड की भी गणना की गयी है। ''स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा। सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते।।[14] कार्यसिद्धि के चार उपायों में चौथा अन्तिम उपाय दण्ड ही है। ''शत्रु पर विजय प्राप्त करने अथवा, कार्यसिद्धि की चार युक्तियाँ (उपाय) हैं- साम, दाम, भेद, दण्ड।'' अन्ततः कौटिल्य का कथन है कि राजा के द्वारा दण्ड के आश्रय से फलित चारों वर्णों और आश्रमों से युक्त यह लोक अपने धर्म-कर्म में रहते हुए अपने लिए शास्त्रनिर्धारित मार्ग पर चलता है-

''चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालितः।
स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मसु।।''

कौटिल्य अर्थशास्त्र, 1.4.16

संस्कृतसाहित्य में बृहत्त्रयी काव्यरत्नों की चारु मञ्जूषा है। महाकवि भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य और महाकवि माघकृत शिशुपालवध महाकाव्य अपने विशिष्ट गुणों के कारण विद्वन्मण्डली में समादृत हैं। अपने वर्णन-वैचित्र्य से दोनों ही महाकाव्यों ने पर्याप्त ख्याति अर्जित की है। बृहत्त्रयी के तीनों महाकाव्यों की मूलकथावस्तु को इन विदग्ध महाकवियों ने अपनी प्रतिभा से महाकाव्यत्व का विस्तार दे दिया और ऐसी रचनाविच्छित्ति का प्रयोग किया कि सहृदय पण्डितों का मन काव्य की इस चमत्कारक्रीडा में खूब रमा। अलङ्कारप्रियता और काव्यक्लिष्टता की दिशा में वे एक-दूसरे को पीछे छोडने की होड़ लगाए हुए थे। 'तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः' और 'उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः?' इत्यादि प्रशस्तियाँ इसी तथ्य की ओर सङ्केत करती हैं। इन महाकाव्यों में उनके निर्माता महाकवियों का विविधविषयज्ञान और पाण्डित्य स्पष्ट ही परिलक्षित होता है।

यहाँ हम किरातार्जुनीय और शिशुपालवध की चर्चा एक विषयविशेष के परिप्रेक्ष्य में करने जा रहे हैं। दोनों ही महाकाव्य राजशासन के प्रसङ्गों से सम्पृक्त हैं। अतः इनमें राजनीति, कूटनीति और दण्डनीति का दर्पण

होना स्वाभाविक है। लोक में दण्ड की व्यापकता और उसकी ग्राह्यता आदिकाल से सर्व विदित है। भारवि और माघ ने अपने काव्यों में विषयानुरूप प्रसङ्गतः दण्डनीति का वर्णन किया है। निःसन्देह इन दोनों महाकवियों ने पूर्ववर्ती आचार्यों एवं महर्षियों द्वारा प्रतिपादित दण्डनीति का ही सम्प्रयोग प्रदर्शित करते हुए उनके हितकर पक्ष का काव्यमय समुपवर्णन किया है। प्रस्तुत शोधपत्र में इन्हीं दोनों महाकाव्यों में समुपन्यस्त दण्डनीति का किञ्चित् विमर्श करने का प्रयत्न किया गया है, जो उन्हीं के उद्धरणों से मण्डित है।

भारवि की मान्यता है अपने शत्रुओं के विच्छेद की अभिलाषा रखने वाले राजा को गुप्तचर की बातें एकान्त में सुननी चाहिए, वे बातें चाहे प्रिय हो अथवा अप्रिय क्योंकि विश्वसनीय गुप्तचर प्रामाणिक सूचनाएँ राजा को प्रदान करते हैं। इससे दण्डनीति का एक पक्ष यह प्रकाशित होता है कि राजा को सदैव सावधान रहते हुए अपने शत्रु का विच्छेद करने के लिए सतत उद्यत रहना चाहिए। 'द्विषां विघाताय विधातुमिच्छतो रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभृतः।.....।।''[15] दुर्योधन ने कपट द्यूत से युधिष्ठिर से राज्य छीना है अतः वह सर्वदा उनसे पराजय की आशङ्का से डरा हुआ है और वह उस राज्य को पुनः नीतिपूर्वक जीतना चाहता है। शत्रु चाहे जितना भी कमजोर क्यों न हो, उससे भय बना रहता है। अतः किसी भी उपाय से उस पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए।[16]

दुर्योधन जितेन्द्रिय होकर, न तो धन के लोभ से और न ही क्रोध से किसी को दण्ड देता है अथवा अपराधमुक्त करता है अपितु वह लोभ-क्रोध से विमुक्त होकर गुरूपदिष्ट धर्मशास्त्रानुकूल मार्ग का आश्रयण करके, शत्रु और पुत्र में भेद दृष्टि न रखते हुए, दण्ड के द्वारा धर्मविप्लव का शमन करता है-

वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना
स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः।

गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा
निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम्।।

—किरातार्जुनीय, 1.13

दण्डनीति कहती है कि धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करने वाले राजा को अभेदबुद्धि से (अर्थात् अपना-पराया का विचार न करते हुए) सम्यग् दण्ड प्रयोग करना चाहिए। इस पद्य की टीका करते हुए व्याख्याकार शिरोमणि कोलाचलमल्लिनाथ सूरि ने दण्डनीति के सिद्धान्त का उदाहरण प्रस्तुत किया है-

'अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अपयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति।।'

(इति स्मरणात्)

अर्थात्, वह राजा अपयश का भागी होकर नरकगामी होता है जो दण्डार्ह को दण्ड नहीं देता और अदण्डनीय को दण्ड देता है। नीति यह है कि 'दण्डं दण्ड्येषु पातयेत्।' और 'यथार्हदण्डः पूज्यते।'

भारवि ने 'उपायचतुष्टय' का उल्लेख करके यथायोग्य पात्रों में उनके विनियोग के फल को सङ्केतित किया है-

अनारतं तेन पदेषु लम्भिता
विभज्य सम्यगविनियोगसत्क्रियाः।
फलन्त्युपायाः परिबृंहितायतीरुपेत्य
सङ्घर्षमिवार्थसम्पदः।। किरातार्जुनीय, 1.15

उपायचतुष्टय है- साम, दाम, भेद और दण्ड। यदि राजा समुचित परीक्षण करके इन चतुर्विध उपायों का यथायोग्य पात्रों में (अर्थात् जो जिसके लायक हो, उसमें) विनियोग करता है, तो ये चारों नीतियाँ समुचित नियुक्ति से सत्कृत होकर, परस्पर स्पर्धा करती हुई, उत्तरोत्तर वृद्धिकारी ऐश्वर्य फल प्रदान करती हैं।

भारवि का यह मानना है कि यदि राजा पक्षपात रहित है और उदारता आदि गुणों से सम्पन्न है तो उसे दण्डनीति का आश्रय नहीं लेना पड़ता और लोग उनके गुणों से आकृष्ट होकर स्वयं ही उसके अनुकूल हो जाते हैं।

''न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः
कृतं न वा कोपविजिह्ममाननम्।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते
नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम्।।'' किरात., 1.21

वनेचर युधिष्ठिर से कहता है कि आपके समूल निर्मूलन की कुचेष्टा में लगे हुए उस दुर्योधन का प्रतीकार यथाशीघ्र करें। 'तदाशु कर्तुं त्वयि जिह्ममुद्यते विधीयतां तत्र विधेयमुत्तरम्।''[17] यहाँ भारवि 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' की दण्डनीति के पक्षधर दृष्टिगोचर होते हैं। वह आगे कहता है कि उपाय के विषय में आप स्वयं विचार करें, उपाय सुझाना मेरे वश की बात नहीं है। यहाँ नीति कहती है- ''यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः तस्मिंस्तथा वर्त्तितव्यं स धर्मः।'' लोक में इसे 'ईट का जवाब पत्थर से देना' कहते हैं। भारवि ने वीरवाला क्षत्राणी द्रौपदी के मुख से दण्डनीति की मार्मिक अभिव्यक्ति करायी है। उसने युधिष्ठिर समेत पाण्डवों के समक्ष अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक दण्डनीति के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को समुद्घाटित किया है। 'आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः' का बोध कराती हुई वह कहती है-

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं
भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधा-
नसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः।।

किरातार्जुनीय, 1.30

वे मूढ बुद्धि पुरुष पराजित होते हैं जो मायवियों के साथ मायावी नहीं बनते। अथात्, 'जैसे को तैसा' नहीं बनते। शठ (दुष्ट) उन

पुरुषों का भेद जानकर उन्हें उसी प्रकार विनष्ट कर देते हैं जैसे कवचरहित शरीर में प्रवेश करके तीक्ष्ण बाण उसका अन्त कर देते हैं।

लोग ऐसे पुरुष की अधीनता स्वयं कर लेते हैं। जिसका क्रोध कुछ फल देने वाला होता है और जो विपत्तियों को दूर भगा देता है। क्रोधहीन मित्र को कोई आदर भी नहीं देता और क्रोध हीन शत्रु से कोई भय भी नहीं खाता–

अवन्ध्य कोपस्य विहन्तुरापदां
भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना
न जातहार्देन न विद्विषादरः।। किरातार्जुनीय, 1.33

उत्साह के अभाव में दण्डनीति निष्फल है। अतः द्रौपदी शत्रु से प्रतीकार के लिए प्रोत्साहित करती है। वह कहती है कि यह दुर्दशा शत्रु के कारण हुई है। इसी लिए मेरा अन्तःकरण मानो जड़ से उखडता जा रहा है। (अत्यन्त व्याकुल है)। जिसके बल और पराक्रम को शत्रु तिरस्कृत नहीं कर सकता, ऐसे मानियों का पराभव भी उत्साहवर्धक है अर्थात् पराभव तो तनिक सह्य भी है किन्तु मान हानि नहीं–

द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः
समूलमुन्मूलयतीव मे मनः।
परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां
पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम्।। किरातार्जुनीय, 1.41

अतः शान्ति (क्षमा) को त्यागकर शत्रुदमन के लिए पुनः प्रचण्ड प्रताप का आश्रय लेना है। निःस्पृह मुनिजन शम के द्वारा कामादि षड्वैरियों को पराजित करके सिद्धि प्राप्त करते हैं, राजगण नहीं–

विहाय शान्तिं नृप! धाम तत्पुनः
प्रसीद सन्धेहि वधाय विद्विषाम्।

व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहा
शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः।। किरातार्जुनीय, 1.42

सदैव हानि पहुँचाने में तत्पर शत्रु के साथ समय (सन्ध्यादि) की प्रतीक्षा करना उचित नहीं है। असीम पराक्रम वाले विजयेच्छु राजा किसी न किसी व्याज से शत्रु को दण्डित करने के लिए सन्धि नियमों को भङ्ग कर ही देते हैं-

न समयपरिरक्षणं क्षमं ते
निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा
विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि।।

वही, 1.45

भारवि चारों विद्याओं का उल्लेख करते हैं जो मनु, कौटिल्यादि द्वारा प्रतिपादित हैं। वे भीम के मुख से युधिष्ठिर को उपालम्भपूर्वक कहते हैं-

चतसृष्वपि ते विवेकिनि नृप! विद्यासु निरूढिमागता।
कथमेत्य मतिर्विपर्ययं करिणी पङ्कमिवावसीदति।।

किरातार्जुनीय, 2.6

लोक की संस्थापना के लिए चार विद्याएँ- आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति प्रसिद्ध हैं। विवेकी पुरुष उन चारों के स्वरूप का सम्यग् अधिगम करके हितसाधन करते हैं। टीकाकार मल्लिनाथ यहाँ मनु को उद्धृत करते हैं। यथा हि मनुः-

आन्वीक्षिक्यां तु विज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ।
अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ।।

जो राजन्यवर्ग अनुत्साहपूर्वक, शत्रुओं की क्रमशः वर्धिष्णु प्रभुशक्ति की उपेक्षा करते हैं, वे शीघ्र ही राज्यश्री से हीन हो जाते हैं।

प्रभुशक्ति का अर्थ है राजा का कोशदण्डमय तेज।

अनुपालयतामुदेष्यतीं प्रभुशक्तिं द्विषतामनीहया।
अपयान्त्यचिरान्महीभुजां जननिर्वादभयादिव श्रियः॥

किरातार्जुनीय, 2.10

यदि राजा कदाचित् दुर्बल हो किन्तु उत्साहसम्पन्न हो तो प्रजा उसका सम्मान करती है और वह विजयी होता है।[18] भारवि का मानना है कि कार्यसिद्धि के पाँचों अङ्गों (सहायक, उपाय, देशविभाग, कालविभाग और विपत्तिप्रतीकार) का निर्णय करने वाली प्रभुशक्ति की उत्पादिका नीति, कृषकों की दैवानुसरण की भाँति उत्साह की अपेक्षा करती है अर्थात् उत्साह के विना कोई कार्यसिद्धि नहीं होती।

प्रभवः खलु कोशदण्डयोः कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयो नयः।
स विधेयपदेषु दक्षतां नियतिं लोक इवानुरुध्यते॥

किरातार्जुनीय, 2.12

पुरुषार्थ और दण्डशक्ति से सम्पन्न होने पर भी उत्साहहीनता के कारण दुर्दशा में पड़ा रहना कदापि उचित नहीं है।[19] उत्साह और पराक्रम ही प्रधान है। पराक्रम की कमी नहीं है पाण्डवों में। यदि राजा (युधिष्ठिर) उत्साही हो जायें तो शत्रु शीघ्र ही विपद्ग्रस्त हो जायें।

कुरु तन्मतिमेव विक्रमे नृप! निर्धूय तमः प्रमादजम्।
ध्रुवमेतदवेहि विद्विषां त्वदनुत्साहहता विपत्तयः॥

किरातार्जुनीय, 2.22

राजा को दण्ड के विषय में सूर्य के समान आचरण करना चाहिए। यथासमय मृदु और कठोर दण्ड का व्यवहार करते हुए संसार पर अपना आधिपत्य स्थिर रखना चाहिए।

समवृत्तरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम्।
अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः॥

किरातार्जुनीय, 2.38

विजयेच्छु राजा को चाहिए कि वह भेदवृत्ति से शत्रु को जर्जरित करके उस पर दण्डोपाय का प्रयोग करे। वह निश्चित रूप से विजयी होगा।

लघुवृत्तितया भिदांगतं बहिरन्तश्च नृपस्य मण्डलम्।
अभिभूय हरत्यनन्तरः शिथिलं कूलमिवापगारयः।।

किरातार्जुनीय, 2.53

शत्रु के स्वभाव और उसके बलाबल का सम्यक् परीक्षण करके विजयाभिलाषी राजा को चाहिए कि वह शत्रु से अधिक बढ़चढ़कर दण्ड बल का प्रयोग करे। पाण्डवों के हितैषी महर्षि व्यास ने दण्डनीति का यही उपदेश राजा युधिष्ठिर को दिया-

लभ्या धरित्री तव विक्रमेण
ज्यायांश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः
प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः।। किरातार्जुनीय, 3.17

शत्रु को अवश्य ही दण्डित करना चाहिए। यदि शत्रु से बदला चुकाये विना क्रोध शान्त हो जाता है, तो वह पुरुष वस्तुतः पुरुष नहीं है-

अनिर्जयेन द्विषतां यस्यामर्षः प्रशाम्यति।
पुरुषोक्तिः कथं तस्मिन् ब्रूहि त्वं हि तपोधन।।

किरातार्जुनीय, 11.71

बलगर्वित शत्रु को प्रबल दण्ड का आश्रय लेकर अवश्य ही नष्ट कर देना चाहिए क्योंकि शत्रूच्छेद को परम लाभ कहा गया है-

बलशालितया यथा तथा
वा धियमुच्छेदपरामयं दधानः।
नियमेन मया निबर्हणीयः
परमं लाभमरातिभङ्गमाहुः।। किरातार्जुनीय, 13.12

साम, दान, भेद और दण्ड- ये चार नीतियाँ गूढ प्रयोग के द्वारा अलक्षित होकर भी विपत्ति-प्रतीकार में समर्थ होती हैं, परराष्ट्रमण्डल को भेदकर महान् लाभ कराती हैं और प्रयोक्ता पुरुष को अभ्युदय प्रदान करती हैं-

गतैः परेषामविभावनीयतां निवारयद्भिर्विपदं विदूरगैः।
भृशं बभूवोपचितो बृहत्फलैः शरैरुपायैरिव पाण्डुनन्दनः॥

किरातार्जुनीय, 14.52

'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रणीयतायाः' का उद्घोष करने वाले महाकवि माघ की काव्य प्रतिभा और पाण्डित्यप्रकर्ष इतना प्रभावी और बहु आयामी है कि किसी ने सत्य ही कहा- "माघेनेव हि माघेन कस्य कम्पो न जायते?" गुणत्रय से विभूषित महाकाव्य अर्थात् शिशुपालवध में भी मूलकथावस्तु का केन्द्र राजनीति ही है। अतः यहाँ भी प्रसङ्गोपेत 'दण्डनीति' का सन्निवेश स्वाभाविक ही है।

देवर्षि नारद ने भगवान् वासुदेव से शिशुपाल का समस्त वृत्तान्त बतलाने के पश्चात् उसके वध के लिए दण्डनीति का सामान्य सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि अत्याचारी दुष्टों का वध करना समर्थ सज्जन का कर्तव्य है-

तदेनमुल्लङ्घितशासनं विधे-
र्विधेहि कीनाशनिकेतनातिथिम्।
शुभेतराचारविपक्त्रिमापदो
विपादनीया हि सतामसाधवः॥ शिशुपालवध, 1.73

राज्यशासन के लिए आवश्यक छः गुणों, तीन शक्तियों, तीन सिद्धियों और तीन उदयों को तो मन्दबुद्धि भी शुक्राचार्य आदि द्वारा प्रणीत ग्रन्थों को पढकर समझ लेता है-

षड्गुणाः शक्तयस्तिस्रः सिद्धयश्चोदयास्त्रयः।
ग्रन्थानधीत्य व्याकर्तुमिति दुर्मेधसोऽप्यलम्॥

शिशुपालवध, 2.26

छः गुण= सन्धिविग्रहयान–आसन–द्वैधीमान–समाश्रय, तीन शक्तियाँ= प्रभुत्व, मन्त्र, उत्साह, सिद्धियाँ= प्रभुसिद्धि, मन्त्रसिद्धि, उत्साहसिद्धि, तीन उदय= वृद्धि–क्षय–अवस्थान।

स्वाभिमानी जन, शत्रु का समूलनाश किये विना उदय को प्राप्त नहीं होते। सूर्य, अन्धकार को नष्ट करके ही उदित होता है–

समूलघातमघ्नन्तः परान्नोद्यन्ति मानिनः।
प्रध्वंसितान्धतमसस्तत्रोदाहरणं रविः॥

शिशुपालवध, 2.33

विपक्ष का समूलनाश किये विना प्रतिष्ठाप्राप्ति प्रायः असम्भव है। धूलि को बिना कीचड़ बनाये पानी नहीं टिकता–

विपक्षमखिलीकृत्य प्रतिष्ठा खलु दुर्लभा।
अनीत्वा पङ्कतां धूलिमुदकं नावतिष्ठते॥

शिशुपालवध, 2.34

जब तक एक भी शत्रु शेष है तब तक सुख कहाँ?–

ध्रियते यावदेकोऽपि रिपुस्तावत्कुतः सुखम्?

शिशुपालवध, 2.35

अमर्षयुक्त शत्रु से वैर मोल लेकर जो मनुष्य उदासीन हो जाता है, वह व्यक्ति तृणों के ढेर पर अग्नि रख कर हवा के रुख की ओर सोता है–

विधाय वैरं सामर्षे नरोऽरौ य उदासते।
प्रक्षिप्योदर्चिषं कक्षे शेरते तेऽभिमारुतम्॥

शिशुपालवध, 2.42

शत्रु के ऊँचे भी सिर पर बिना पैर रखे (अर्थात् उसे पददलित किये बिना) कीर्ति कैसे स्वर्ग तक पहुँच सकती है–

अकृत्वा हेलया पादमुच्चैर्मूर्धसु विद्विषाम्।
कथङ्कारमनालम्बा कीर्तिर्द्यामधिरोहति।।' शिशुपालवध, 2. 52

जो शत्रु एकमात्र दण्ड द्वारा ही साध्य है, उसके प्रति सामादि उपायत्रय व्यर्थ हैं। स्वेदन क्रिया के योग्य अपक्व ज्वर वाले रोगी को कौन बुद्धिमान पानी से नहलायेगा?-

चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया।
स्वेद्यमामज्वरं प्राज्ञः कोऽम्भसा परिषिञ्चति।।

शिशुपालवध, 2.54

निर्बल (विपद्ग्रस्त) को बली दण्ड दे- यह मानी पुरुष के लिए लज्जास्पद है। राहु भी पूर्ण चन्द्र को ही ग्रसने का उत्साह दिखाता है-

नीतिरापदि यद्गम्यः परस्तन्मानिनो ह्रिये।
विधुर्विधुन्तुदस्येव पूर्णस्तस्योत्सवाय सः।।

शिशुपालवध, 2.61

शिशुपाल बलवान् शत्रु है अतः उसका सिर काटकर दण्डित करना उचित है-

प्राप्यतां विद्युतां सम्पत्सम्पर्कादर्करोचिषाम्।
शस्त्रैर्द्विषच्छिरश्छेदप्रोच्छलच्छोणितोक्षितैः।।

शिशुपालवध, 2.66

विजयाभिलाषी को अपने अन्दर प्रज्ञा और उत्साह-दोनों को धारण करना चाहिए। प्रज्ञा का अभिप्राय मन्त्रशक्ति से है। न तो केवल मन्त्रशक्ति पर्याप्त है और नही उत्साहमात्र। ये दोनों ही प्रभुत्वशक्ति के मूल में हैं-

प्रज्ञोत्साहावतः स्वामी यतेताधातुमात्मनि।
तौ हि मूलमुदेष्यन्त्या जिगीषोरात्मसम्पदः।।

शिशुपालवध, 2.76

प्रज्ञोत्साह सम्पन्न होकर उपायचतुष्टय (साम, दाम, भेद और दण्ड) का आश्रय लेने पर भी प्रमादयुक्त पुरुष के प्रयोजन उसी तरह नष्ट हो जाते हैं (अभीष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं होती) जैसे कि निद्राशील शिकारी पास आये हुए भी मृग को नहीं मार पाता–

उपायमास्थितस्यापि नश्यन्त्यर्थाः प्रमाद्यतः।
हन्ति नोपशयस्थोऽपि शयालुर्मृगयुर्मृगान्।।

शिशुपालवध, 2.80

ऐसा राजा, जिसकी बुद्धि ही शस्त्र है, प्रकृति अर्थात् राज्य के सातों अङ्ग ही जिसका शरीर हो, दुर्भेदमन्त्रगुप्ति जिसका कञ्चुक (शरीरावरण) हो, गुप्तचर आँखे हो और दूत ही मुख हो, लोकविलक्षण पुरुष होता है–

बुद्धिः शस्त्रः प्रकृत्यङ्गो घनसंवृत्तिकञ्चुकः।
चारेक्षणो दूतमुखः पुरुषः कोऽपि पार्थिवः।।

शिशुपालवध, 2.82

समय की गति को पहचानने वाले राजा को एकमात्र तेज अथवा एकमात्र क्षमा का ही व्यवहार नहीं करना चाहिए। न तो क्षात्रधर्म का पालन करने में एकमात्र कठोर दण्डादि का प्रयोग करना चाहिए और न ही अतिशय क्षमा ही करनी चाहिए जैसे कि रसभावविद् कवि को न तो केवल ओज और न ही केवल प्रसाद गुण का आधान अपने काव्य में करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि यथावसर दोनों का सन्तुलित प्रयोग करना चाहिए–

तेजः क्षमा वा नैकान्तं कालज्ञस्य महीपतेः।
नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः।।

शिशुपालवध, 2.83

शत्रु द्वारा अपराधाचार करने पर भी अपने क्रोध को तब तक प्रकट नहीं करना चाहिए जब तक उचित अवसर न आ जाय। मौका मिलते ही उसे उचित दण्ड देना चाहिए-

कृतापचारोऽपि परैरनाविष्कृतविक्रियः।
असाध्यः कुरुते कोपं प्राप्ते काले गदो यथा।।

शिशुपालवध, 2.84

इस श्लोक की टीका में कोलाचल मल्लिनाथ सूरि ने अभिप्राय के समर्थन में एक अतीव उपयुक्त नीति यद्धृत की है-

'वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालविपर्ययः।
तमेव चागते काले भिन्द्याद्घटमिवाश्मना।।'

जैसे मन्त्रौषधि के ज्ञाता और देवस्थानों में निवास करने वाले गुणी जन सांप को वश में कर लेते हैं, वैसे ही स्व-पर-राष्ट्र का चिन्तन करने वाले और प्रकृतिमण्डल में सुस्थित राजा भी शत्रु को वश में कर लेते हैं-

तन्त्रावापविदा योगैर्मण्डलान्यधितिष्ठता।
सुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्रा इव शत्रवः।।

शिशुपालवध, 2.88

प्रज्ञाबल अर्थात् मन्त्रशक्ति ही जिसका प्रधान मूल है ऐसा विशाल उत्साहरूपी वृक्ष, कर के द्वारा वर्धमान विपुल प्रभुशक्ति रूपी फल देता है। प्रभुशक्ति का अर्थ है राजा का तेजोविशेष और यह तेजोविशेष कोश और दण्डशक्ति से उत्पन्न होता है-

करप्रचेयामुत्तुङ्गः प्रभुशक्तिं प्रथीयसीम्।
प्रज्ञाबलबृहन्मूलः फलत्युत्साहपादपः।। शिशुपालवध,2.89

महाकवि माघ कहते हैं कि शत्रुजन्य पराभव अत्यन्त दुःसह होता है-

''परिभवोऽरिभवो हि सुदुःसहः॥'' शिशुपालवध, 6.45

सिंह कभी भी सियार की 'हुऑ-हुऑ' ध्वनि सुनकर नहीं दहाड़ता-

''अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानि केसरी''

शिशुपालवध, 16.25

महात्मा तो यथाकारण क्रुद्ध होकर पराक्रम करते हैं किन्तु दुरात्मा यों ही प्रलाप करते हैं-

विसृजन्त्यविकत्थिनः परे विषमाशीविषवन्नराः क्रुधम्।
दधतोऽन्तरसाररूपतां ध्वनिसाराः पटहा इवेतरे॥

वही, 16.32

इस प्रकार हम देखते हैं कि किरातार्जुनीय महाकाव्य में महाकवि भारवि ने दण्डनीति का प्रासङ्गिक रूप से अत्यन्त प्रभावशाली सन्निवेश किया है। उन्होंने अपने महाकाव्य की कथावस्तु को इस दण्डनीति के परिप्रेक्ष्य में एक उपयुक्त प्रसङ्ग से आरम्भ किया है। युधिष्ठिर स्वयं धर्मराज हैं और न्यायपथ के अनुगामी हैं। उनके चरित में धीरता के साथ शान्तिप्रियता भी है जो शत्रुप्रतीकार के लिए अनुपयुक्त है। द्रौपदी और मध्यम पाण्डव भीम उस राजनीति के समर्थक हैं जिसमें विरोधियों को सम्हलने का अवसर न देने की नीति है। अतः वे युधिष्ठिर को दण्डनीति के प्रभावी प्रयोग का परामर्श देते हैं। यह कथन अनुचित न होगा कि महाकवि माघ द्वारा शिशुपालवध की रचना किरातार्जुनीय के अनुकरण में की गयी है। उसमें वे अपने पाण्डित्य और काव्य सौन्दर्य के द्वारा भले ही भारवि से बीस पड़ते हों किन्तु निष्पक्ष समीक्षा करने पर यह स्पष्ट होता है कि दण्डनीति के प्रभावी उपन्यास में वे भारवि से उन्नीस ही हैं। भारवि ने जिस परिपक्व दण्डनीति का परिचय दिया है, वैसी प्रौढता माघ के दण्डनीति निरूपण में नहीं है। दोनों ही महाकवियों ने मनु, कौटिल्य आदि द्वारा प्रतिपादित दण्डनीति के सिद्धान्तों का

अनुवर्तन किया है। वे इस विषय में पूर्ववर्ती आचार्यों की नीति से प्रभावित हैं।

---

1. डॉ. सूर्यकान्तः वैदिक कोश, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1963ई, पृ.214-15
2. महाभारत, शान्तिपर्व, 69.104
3. वही, वनपर्व, 150.32, शान्तिपर्व, 15.29, 63.28, 69.74 और 122.25
4. कौटिल्यः अर्थशास्त्र, 1.2.1
5. वही, 1.2.2, 1.2.4
6. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 1.2.6
7. वही, 1.4.4 तस्यामायत्ता लोकयात्रा।
8. वही, 1.4.5 तस्माल्लोकयात्रार्थी नित्यसमुद्यद्दण्डः स्यात्।
9. वही, 1.4.10
10. मनुस्मृति, 8.26 तथा 7.19
11. रघुवंशमहाकाव्यम्, 1.6
12. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 1.4.11
13. वही, 1.4.15 स तेन गुप्तः प्रभवतीति।
14. मनु. 9.294 तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र, 6.1., याज्ञवल्क्य. 1.353, विष्णुधर्मसूत्र, 3.33, कामन्दक., 1.16.,4.1-2, अग्निपुराण, 233.12, महा. शान्ति., 69.64-65, इत्यादि।
15. किरातार्जुनीय, 1.3
16. किरातार्जुनीय, 1.7-8
17. किरातार्जुनीय, 1.25
18. किरातार्जुनीय, 2.11
19. वही, 2.15-21
20.

किरातार्जुनीये किरातार्जुनयोर्युद्धसन्दर्भवैशिष्ट्यम्

डॉ. सुमन कुमार झा

संस्कृतसाहित्यस्य रत्नेषु महाकाव्यममूल्यरत्नमस्ति इत्यत्र नास्ति विसंवादः, यतो हि संस्कृतमहाकाव्यानामतिमहत्वपूर्णं स्थानं विद्यते संस्कृतवाङ्मये। संस्कृतमहाकाव्येषु भारतीयसंस्कृतिसभ्यता-कला-चिन्तन-शास्त्र-विद्या- ज्ञान-विज्ञान-दर्शन-समाज-राष्ट्रलोकजीवनादयः विविधविषयाः वर्णिताः विवेचिताः चित्रिताश्चेति प्राच्य-पाश्चात्य-विद्वद्भिः सर्वात्मना स्वीक्रियते तथ्यमिदम्। यथा चोक्तं भामहाचार्येण-

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान्कवेः।।[1]

वस्तुतः भामहाचार्यस्य कथनमिदं सर्वथा सत्यं प्रतिभाति, कथमिति चेन्महाकवीनां महदुत्तरदायित्वं भवति समाजं प्रति, राष्ट्रं प्रति च। तदुत्तरदायित्वं निर्वहन्तः महाकवयः युगानुरुपं युगस्य सामाजिकचेतनानुरूपञ्च काव्यं रचयन्ति। साहित्यमपि युगधर्ममाश्रयति अतएव साहित्यं समाजस्य प्रतिबिम्बमिति कथ्यते। संस्कृतमहाकाव्येषु न केवलं समाजस्य जीवनस्य वा अपितु समाजोपयोगिसमस्ततत्वानां, सिद्धान्तानां, व्यवहाराणाञ्च प्रतिपादनं विधिनिषेधवाक्यमाध्यमेन कृतमस्ति। कस्मिन् कर्मणि अस्माकं प्रवृत्तिः स्यात् कुत्र च निवृत्तिः इत्येतदपि काव्यस्य प्रयोजनान्तर्गतमेव। यथा चोक्तं - साहित्यदर्पणकारेण- **"चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि काव्यतो 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादिकृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव।"**[2]

मम्मटाचार्येणापि ''व्यवहारविदे, शिवेतरक्षतये'' इत्यादयः प्रतिपादिताः काव्यप्रयोजनसन्दर्भे।

संस्कृतमहाकाव्येषु 'बृहत्त्रयी' इति नाम्नाप्रसिद्धं महाकाव्यत्रयं विशिष्ट्ं स्थानं बिभर्ति इदमपि निर्विवादमेव। बृहत्त्रय्यामपि महाकविभारविविरचितस्य किरातार्जुनीयमहाकाव्यस्य वैशिष्ट्यं सर्वथा प्रथितमेव। किरातार्जुनीयं बृहत्त्रय्यां प्रमुखं स्थानं धारयति, अनेन एव महाकाव्येन सह संस्कृतमहाकाव्यलेखनस्य एकः नवीनः मार्गः प्रस्फुटितः यः मार्गः काव्यशास्त्रविचक्षणैः विचित्रमार्गनाम्ना अभिहितः। यथा च प्रतिपादितं कुन्तकाचार्येण –

प्रतिभाप्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता।
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते।।
अलङ्कारस्य कवयो यत्रालङ्करणान्तरम्।
असन्तुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत्।।
रत्नरश्मिच्छटोत्सेकभासुरैर्भूषणैर्यथा ।
कान्ताशरीरमाच्छाद्य भूषायै परिकल्प्यते।।
यत्र तद्वदलंकारैर्भ्राजमानैर्निजात्मना।
स्वशोभातिशयान्तःस्थमलङ्कार्यं प्रकाशते।।
यदप्यनूतनोल्लेखं वस्तु यत्र तदप्यलम्।
उक्तिवैचित्र्यमात्रेण काष्ठां कामपि नीयते।।
यत्रान्यथाभवत् सर्वमन्यथैव यथारुचि।
भाव्यते प्रतिभोल्लेखमहत्त्वेन महाकवेः।
प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां व्यतिरिक्तस्य कस्यचित्।।
स्वभावः सरसाकूतो भावानां यत्र बध्यते।
केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः।।
सोऽतिदुःसञ्चरो येन विदग्धकवयो गताः।
खड्गधारापथेनेव सुभटानां मनोरथाः।।"[3]

इयं या अलङ्कृतलेखनसरणिः महाकविभारविना आविर्भूता सैव सरणिः अग्रे शिशुपालवधे नैषधीयचरिते च उत्तरोत्तरं प्रकृष्टतमा सञ्जाता

पल्लविता पुष्पिता च।

महाकाव्येऽस्मिन् विविधसन्दर्भाः वर्णिताः सन्ति तेषु सन्दर्भेषु किरातार्जुनयोर्युद्धसन्दर्भस्तु विलक्षण एव प्रतिभाति। येन कौशलेन सन्दर्भोऽयं महाकविना चित्रितः तेन स सन्दर्भः पाठकानां समक्षं चित्रमिव दृश्यते। इदमस्ति महाकवेः वस्तुविन्यासोपस्थापनकौशलम्। चतुर्वर्गफलप्राप्तिः यत् काव्यप्रयोजनं शास्त्रकारैः निर्दिष्टमस्ति[4] तदपि अनेन सन्दर्भेण एव महाकाव्येऽस्मिन् परिलक्ष्यते। यथा- भगवतः शिवस्याराधनाय अर्जुनेन कृता तपश्चर्या, दिव्यास्त्रलाभः, भगवान्शिवस्य दर्शनञ्च क्रमशः धर्म-अर्थ-मोक्षरूपाणां प्रयोजनमस्ति।

महाकाव्यस्यास्य नामकरणस्य सार्थक्यमपि अनेन युद्धसन्दर्भेण एव परिलक्ष्यते। यथा च प्रतिपादयति आचार्यमल्लिनाथः किरातार्जुनावधिकृत्य कृतो ग्रन्थः किरातार्जुनीयम्। "शिशुक्रन्दयमसमद्वन्द्वेन्द्र-जननादिभ्यच्छः" इति द्वन्द्वाच्छप्रत्ययः। राघवपाण्डवीयमितिवत्। तथा ह्यर्जुन एवात्र नायकः किरातस्तु तदुत्कर्षाय प्रतिभटतया वर्णितः। यदाहः दण्डी-

"वंशवीर्यप्रतापादि वर्णयित्वा रिपोरपि।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः।।"[5] इति

अथायं संग्रहः - "नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशजस्तस्योत्कर्षकृते त्ववर्ण्यततरां दिव्यः किरातः पुनः। शृङ्गारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीरः प्रधानो रसः शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम्।।"[6]

अष्टादशसर्गेषु निबद्धेऽस्मिन् महाकाव्ये किरातार्जुनयोः युद्धसन्दर्भः यद्यपि द्वादशसर्गादारभ्य अष्टादशसर्गपर्यन्तं दृश्यते, परं अस्य बीजारोपणं तु तृतीयसर्गे महामुनिव्यासस्य कथने एव जातम् यथा च -

"लभ्या धरित्री तव विक्रमेण ज्यायांश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः।।"[7]

राज्यप्राप्त्यर्थं पाशुपतास्त्रलाभाय च व्यास-युधिष्ठिरयो: आज्ञया अर्जुन: इन्द्रकीलपर्वते शिवमाराधयति। तपश्चर्यया प्रसन्नो शिव: किरातवेशे तत्रागत्य अर्जुनस्य पराक्रमं परीक्षति, अन्ते सन्तुष्टे सति तस्मै दिव्यास्त्रं प्रददाति, "शत्रुन् विजयस्व" इति वरमपि प्रददाति।

भारविणा युगानुरुपं नवीनोत्साहवर्धनाय, शौर्यस्य सन्देशवितरणाय च पार्थसदृशो पराक्रमसम्पन्न: धनुर्धर: स्वकाव्यस्य नायकरूपेण वर्णित:, अनेन सन्दर्भेन तदानीन्तनसमाजे शौर्यपराक्रमयो: अवतारणापि कृता। यथा च प्रतिपादयन्ति आचार्य राधावल्लभत्रिपाठिन: - "भारवि: किरातार्जुनीयस्योपक्रम एवावसादं पराजयानुभवं साकारयन्नर्जुनस्य चरित्रेण तत्र आशाया ज्योतिरिव दीपयति।"[8] अर्जुनस्य यादृशं शौर्यं पराक्रमं धैर्योत्साहञ्च वर्णितं महाकविना तत् तु सर्वथा उत्साहं सञ्चारयति, शिक्षयति च अस्मान्।

वस्तुत: मानवजीवने धैर्योत्साहयो: महत्वं सुविदितमेव। उत्साहेन विना कार्यसिद्धिर्न भवति जीवने साफल्यमपि न प्राप्तुं शक्यन्ते अस्माभि:। उत्साहेन पराक्रमस्यागमनं भवति पौरुषसाध्या: सम्पदो नानुत्साहसाध्या: अर्थात् स्मृद्धय: विषादेन सममनुत्साहेन सह न निवसन्ति। यथा च प्रतिपादयति भारवि: "निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं स्मृद्धय:।"[9]

धैर्यस्य महत्वं प्रतिपादयत् कथयति भारवि -

युद्धानन्तरम् अर्जुनस्य धैर्यबलेन यथा प्रभावित: शिव: न तथा तपसा यतो हि धैर्यस्य विशिष्टं महत्त्वमस्ति जीवने, इति महाकवे:- जीवनदर्शनम्। यथा च -

"तपसा तथा न मुदमस्य ययौ भगवान्यथा विपुलसत्त्वतया।
गुणसंहतेः समतिरिक्तमहो निजमेव सत्त्वमुपकारि सताम्।।"[10]

रसपरिपाक:- महाकविभारवे: रसयोजना अपूर्वा अस्ति। यथा च कथितं कृष्णकविना -

"प्रदेशवृत्त्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना।
सा भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्या कृतिः कैरिव नोपजीव्याः॥"

वीररसस्योपनिबन्धनं किरातार्जुनयोः युद्धसन्दर्भे विशेषरुपेण दृश्यते। युद्धवीरेण साकं धर्मवीरस्यापि परिपाको अर्जुनस्य तपोनिष्ठया धैर्येण च जायते। यद्यपि वीररसस्य निरुपणं सम्पूर्णे काव्ये अनुस्यूतमस्ति परं तस्योत्कर्षः प्रसङ्गेऽस्मिन् विशेषरूपेण परिलक्ष्यते। आलम्बनोद्दीपन-सञ्चारिभावानां संयोगेन निष्पन्नवीररसस्य परिपाकः सन्दर्भस्यास्य महद् वैशिष्ट्यमुत्पादयति। उत्साह-स्थायिभावेन साकं, धैर्य-व्यभिचारिभावस्य च विलक्षणसम्बन्धः दृश्यते प्रसङ्गेऽस्मिन् स तु रसभावयोः प्रकृष्टरुपः। यथा च कथयति शारदातनयः -

"वृक्षत्वशिंशुपात्वादेर्यथा तादात्म्यमुच्यते।
तथा भवेत्काव्यबन्धे तादात्म्यं रसभावयोः।
तादात्म्यं भावरसयोर्भारविः स्पष्टमूचितवान्॥"[11] इति

वस्तुतः महाकाव्यस्यास्य यः वाक्यार्थः कविना विवक्षितः सोऽपि अनेन सन्दर्भेणैव सिद्धयति।

यतो हि काव्यस्य वाक्यार्थता अङ्गीरसेनैव जायते यथा च प्रतिपादयति शारदातनयः:-

"प्रकृष्यमाणो यो भावः स स्थायीति निगद्यते।
काव्योपात्तैर्विभावादिभावैः समुपबृंहितः॥

स्थायी रसात्मतां यातस्तत्र वाक्यार्थतामियात्।
शब्दोपात्तक्रिया ज्ञाताऽथवा प्रकरणादिभिः।

कारकादिविशिष्टैव यथा वाक्यार्थतामियात्।
तथा विभावानुभावसात्त्विकव्यभिचारिभिः।

स्थायीविशिष्टः काव्यादिवाक्यार्थो भवति स्फुटम्।
सम्बन्धो रसकाव्यादेस्तद्वाक्यार्थतया भवेत्॥"[12]

सन्दर्भोऽयं प्रकरणवक्रतारुपे प्रतिपादितः कुन्तकाचार्येण- "किरातार्जुनीये किरातपुरुषोक्तिषु वाच्यत्वेन सवमार्गणमात्रमेवोपक्रान्तम्। वस्तुतः पुनरर्जुनेन सह तात्पर्यार्थलोचनया विग्रहोवाक्यार्थतामुपनीतः। तथा च तत्रैवोच्यते -

"प्रयुज्य सामाचरितं विलोभनं भयं विभेदाय धियः प्रदर्शितम्।
तथाभियुक्तं च शिलीमुखार्थिना यथेतरन्याय्यमिवावभासते।।"[13]

चतुर्दशसर्गे शिवेन विस्फारितस्य चापमण्डलस्य चित्रमद्भुतमस्ति। यथा -

"उदूढवक्षः स्थगितैकदिङ्मुखो विकृष्टविस्फारितचापमण्डलः।
वितत्यपक्षद्वयमायतं बभौ विभुगुणानामुपरीव मध्यगः।।"[14]

नादसौन्दर्येण अर्जुनस्य शौर्येण च समन्वितं पद्यमिदं कवेः काव्यकौशलस्य प्रमाणमस्ति- यथा च

उन्मज्जन्मकर इवामरापगाया वेगेन प्रतिमुखमेत्य बाणनद्याः।
गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः।।[15]

अत्र प्रहर्षिणीछन्दोविधानेन वर्णनस्य चित्रमयत्वमद्भुतमेव प्रतिभाति।

"त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्।"

अलंकारयोजना - सन्दर्भेऽस्मिन् दृष्टान्त अर्थान्तरन्यासयमक उत्प्रेक्षा-उपमा-अतिशयोक्ति-निदर्शना-काव्यलिङ्ग-रूपक-मालोपमा-व्यतिरेकश्लेष-समासोक्ति स्वभावोक्त्यादयोऽलङ्काराः प्रयुक्ताः सन्ति। तत्रापि उपमा-उत्प्रेक्षालङ्कारयोः प्रयोगस्तु विशिष्ट एव। उत्प्रेक्षालङ्कारस्योदाहरणं यथा -

निपतितेऽधिशिरोधरमायते सममरत्नियुगेऽयुगचक्षुषः।
त्रिचतुरेषु पदेषु किरीटिना लुलितदृष्टि मदादिव चस्खले।।[16]

उपमालङ्कारस्योदाहरणं यथा -

शम्भोर्धनुर्मण्डलतः प्रवृत्तं तं मण्डलादंशुमिवांशुभर्तुः।
निवारयिष्यन्विदधे सिताश्वः शिलीमुखच्छायवृतां धरित्रीम्।।[17]

मालोपमालङ्कारस्योदाहरणं यथा -

"सद्वादितेवाभिनिविष्टबुद्धौ गुणांभ्यसूयेव विपक्षपाते।
अगोचरे वागिव चोपरेमे शक्तिः शरणं शितिकण्ठकाये।।"[18]

उत्प्रेक्षालङ्कारस्य वैशिष्ट्यं यथा-

"दिशः समूहन्निव विक्षिपन्निव प्रभां खेराकुलयन्निवानिलम्।
मुनिश्चचाल क्षयकालदारुणः क्षितिं सशैलां च लयन्निवेषुभिः।।"[19]

दृष्टान्तालङ्कारस्य यथा -

"वरं कृतध्वस्तगुणादत्यन्तमगुणः पुमान्।
प्रकृत्या ह्यमणिः श्रेयान्नालङ्कारश्च्युतोपलः।।"[20]

उपमालङ्कारस्य यथा -

"स्फुरत्पिशङ्गमौर्वीकं धुनानः सबृहद्धनुः।
धृतोल्कानलयोगेन तुल्यमंशुमता बभौ।।"[21]

महाकवेः उत्प्रेक्षा अद्भुताऽस्ति, यथा -

"तस्याहवायासविलोलमौलेः संरम्भताम्रायतलोचनस्य।
निर्वापयिष्यन्निव रोषतप्तं प्रस्नापयास मुखं निदाघः।।"[22]

महाकविना विविधैरलङ्कारैः सन्दर्भोऽयं विभूष्यते। यत्र शब्दनिष्ठ वैचित्र्यमपेक्षितं तत्र शब्दालङ्कारा यत्र च अर्थनिष्ठवैचित्र्यमपेक्षितं तत्र अर्थालङ्काराः प्रयुक्ताः। पञ्चदशे सर्गे चित्रालङ्कारस्य विशिष्ट एव प्रयोगः दृश्यते, तत्र यमक-सर्वतोभद्र-विलोम-पादान्तादियमक-पदादियमक-प्रतिलोमानुलोमपाद-गोमूत्रिकाबन्ध-समुद्गक-अर्धभ्रमक-द्वयक्षर-

एकाक्षरादीनां चित्रालङ्काराणां-रमणीया सृष्टिः विद्यते, परमेते अलङ्काराः युद्धसन्दर्भे एव प्रयुक्ताः सन्ति। यत्र गम्भीरभावानामभिव्यञ्जना क्रियते महाकविना तत्र-उपमाउत्प्रेक्षा-अर्थान्तरन्यासनिदर्शनादयोऽलङ्काराः प्रयुक्ताः सन्ति। अलङ्काराणां सन्निवेशः विषयानुकूलं प्रसङ्गानुकूलञ्च प्रतीयते।

छन्दविधानम् - सन्दर्भेऽस्मिन् विविधछन्दांसि प्रयुक्तानि सन्ति। यथा - चतुर्दशसर्गे वंशस्थवृत्तं, पञ्चदशे अनुष्टुपछन्द, षोऽशे सप्तदशे च उपजातिछन्द, अष्टादशे च द्रुतविलम्बितछन्दसां प्रयोगः कृतः। सर्गान्ते द्रुतविलम्बित-मालिनि-वसन्ततिलकाशिखरिणीछन्दसां प्रयोगोऽपि कृतः। अष्टादश सर्गे तु द्रुतविलम्बितअपरवक्त्र-प्रमुदितवदना-प्रमिताक्षरा-रथोद्धता-शालिनी-औपच्छन्दसिकं-स्वागता-मत्तमयूर-वंशस्थ-शिखरिणी-प्रहर्षिणी-मालिनीत्यादीनां छन्दसां प्रयोगः कृतः।

अस्मिन् युद्धसन्दर्भे विषयानुकूलं भावानुकूलञ्च ओजोगुणस्य प्रयोगः सर्वथा औचित्यं बिभर्ति। उदाहरणार्थं यथा **"बाणच्छिदस्ते विशिखाः स्मरारेरवाङ्मुखीभूतफलाः पतन्तः। अखण्डितं पाण्डवसायकेभ्यः कृतस्य सद्यः प्रतिकारमापुः।।"**[23]

अस्मिन् सन्दर्भे इन्द्रं प्रति अर्जुनस्य यद् वचनमस्ति तदपि प्रासङ्गिकमेव - यथा -

"तावदाश्रीयते लक्ष्म्या तावदस्य स्थिरं यशः
पुरुषस्तावदेवासौ यावन्मानान्न हीयते।।"[24]

"वंशलक्ष्मीमनुद्धृत्य समुच्छेदेन विद्विषाम्।
निर्वाणमपि मन्येऽहमन्तरायं जयश्रियः।।"[25]

किराताधिपतेः रणकर्मवीक्ष्य अजुर्नः तर्कयति, यतो हि **"न पण्डिताः साहसिकाः भवन्ति। श्रुत्वाऽपि तत्त्वं संतोलयन्ति।"** (दशरुपकम्)

अथ त्रयोविंशतिश्लोकैः अर्जुनस्य वितर्कः प्रदर्शितः महाकविना। अर्जुनः आत्मानमपि न विश्वसिति -

**"माया स्विदेषा मतिविभ्रमो वा ध्वस्तं नु मे वीर्यमुताहमन्यः।
गाण्डीवमुक्ता हि यथा पुरा मे पराक्रमन्ते न शराः किराते:।।"**[26]

यतो हि "प्रच्छन्नमप्यूह्यते हि चेष्टा।" यस्माच्चेष्टाव्यापार: प्रच्छन्नमपि निगूढमपि स्वरुपमूह्यते तर्कयते। तर्कवितर्काभ्याम् अर्जुनेन सम्भावितं यन्नायं किरात: किन्त्वेष: तिरोहितवेष: कोऽप्यमानुष: पुरुष इति। यथा -

**"परस्य भूयान्विवरेऽभियोगः प्रसह्य संरक्षणमात्मरन्ध्रे।
भीष्मेऽप्यसम्भाव्यमिदं गुरौ वा न सम्भवत्येव वनेचरेषु।।"**[27]

इत्थं निर्धारिते अर्जुनेन किरातस्य वीर्यमस्त्रबलेन निवारणीयम् एव यथा -

**"अप्राकृतस्याहवदुर्मदस्य निवार्यमस्यास्त्रबलेन वीर्यम्।
अल्पीयसोऽप्यामयतुल्यवृत्तेर्महापकाराय रिपोर्विवृद्धिः।।**[28]

अद्भुतं विवेचनमस्ति महाकवे:। कियददभुतं चित्रणमस्ति। एवं निश्चित्य अर्जुनेन क्रमश: सर्वेषामस्त्राणां प्रयोग: क्रियते। परं किराताधिपतिना तेषां सर्वेषामस्त्राणां प्रयोग: विफलीक्रियते। अस्मिन्नेव क्रमे सर्वप्रथमं प्रस्वापनास्त्रं प्रयुक्तमर्जुनेन[29]-परन्तु शिवेन स्वतेजसा प्रस्वापनास्त्रस्य तेज: निस्तेज: कृतम्। प्रस्वापनास्त्रस्य विफलत्वं दृष्ट्वा, अर्जुनेन भुजङ्गपाश: प्रयुक्त: शत्रो: प्रबन्धनाय। यथा -

**"महास्त्रदुर्गे शिथिलप्रयत्नं दिग्वारणेनेव परेणगणे।
भुजङ्गपाशान्भुजवीर्यशाली प्रबन्धनाय प्रजिधाय जिष्णुः।।"**[30]

परं पशुपतिना तदपि विफलं कृतम्। अथार्जुनेन आग्नेयास्त्रेण सर्वत्र अग्निरूद्भावित:।[31]

प्रत्युत्तरत्वेन भगवता शिवेन आग्नेयास्त्रं विफलीकर्तुम् वरुणास्त्रं प्रयुक्तम्। यथा -

"लिलिक्षतीव क्षयकालरौद्रे लोकं विलोलार्च्चिषि रोहिताश्वे।
पिनाकिना हूतमहाम्बुवाहमस्त्रं पुनः पाशभृतः प्रणिन्ये।।"[32]

इत्थं शिवेन अर्जुनप्रयुक्तानि -

सर्वाणि अस्त्राणि तथैव विफलीकृतानि। यथा विधिविपरीतभाग्यं न्यायवृत्तेः पुरुषार्थं नाशयति। यथा -

"इति विविधमुदासे सव्यसाची यदस्त्रं, बहुसमरन यज्ञः सादयिष्यन्नराति। विधिरिव विपरीतः पौरुषं न्यायवृत्तेः, सपदि पदुपनिन्ये रिक्ततां नीलकण्ठः[33] शिवेन अस्त्रविहीनोऽर्जुनः विजयार्थं भुजपराक्रम-सम्पदम् आकाङ्क्षितम्। यथा -

"वीतप्रभावतनुरप्यतनुप्रभावः प्रत्याचकाङ्क्ष जयिनीं भुजवीर्यलक्ष्मीम्।
अस्त्रेषु भूतपतिनापहृतेषु जिष्णुर्वर्षिष्यता दिनकृतेव जलेषु लोकः।।"[34]

यथा नद्यादिजलापहारेऽप्युपायान्तरेण कूपादिना जीवितुमिच्छति तद्वदस्त्रबलापहोरऽपि भुजबलेनैव जेतुमिच्छति इति भावः।

यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति तर्हि कोऽत्र दोषः इति रीत्या अर्जुनः पुनःप्रयत्नं करोति, यतो हि यत्नेनैव कार्यसिद्धिः, अतः पुनः पुनः यत्नः कर्त्तव्यः - यथा -

"संस्कारवत्त्वाद्रमयत्सु चेतः प्रयोगशिक्षागुणभूषणेषु।
नयं यथार्थेषु शरेषु पार्थः शब्देषु भावार्थमिवाशशंसे।।"[35]

यथा शाब्दिकाः शब्दैरर्थं साधयन्ति तद्वदर्जुनः शरैर्जयं साधयितु-मिच्छति।

शिवसमक्षमर्जुनस्य सर्वे शराः तथैव व्यर्थाः जाताः यथा- दुराग्रहीनां समक्षं सद्वादिता व्यर्था भवति यथा -

"सद्वादितेवाभिनिविष्टबुद्धौ गुणाभ्यसूयेव विपक्षपाते।
अगोचरे वागिव चोपेरेमे शक्तिः शराणां शितिकण्ठकाये।।"[36]

अर्जुनेन प्रक्षिप्ता इषवः शिवं न व्यथयामासुः। यथा हिमालयस्य शृङ्गं अर्कस्य किरणा न तापयन्ति। स्वगणानां क्षोभेण शिवोऽपि सविकारः जातः। तत्र हेतुः अर्जुनस्य शौर्यम् एव। एतस्य सुन्दरं चित्रमुपस्थापयति महाकविभारविः -

"क्षोभेण तेनाऽथ गणाधिपानां भेदं ययावाकृतिरीश्वरस्य।
तरङ्गकम्पेन महाह्रनदानां छायामयस्येव दिनस्य कर्तुः॥"[37]

स्वयं निर्विकारोऽपि प्रतिमासूर्यवत् परसंसर्गात्तथा प्रतीयते इत्यर्थः। यदि देवोऽपि विकृतस्तर्हि किं न कृतः कोपः - तत्राह-

"प्रसेदिवासं न तमाप कोपः कुतः परस्मिन्पुरुषे विकारः।
आकारवैषम्यमिदं च भेजे दुर्लक्ष्यचिह्ना महतां हि वृत्तिः॥"[38]

शिवेन विस्फारितस्य धनोः चित्रणमद्भुतमस्ति यथा -

"विस्फार्यमाणस्य ततो भुजाभ्यां भूतानि भर्त्रा धनुरन्तकस्य।
भिन्नाकृतिं ज्यां ददृशुः स्फुरन्तीं क्रुद्धस्य जिह्वामिव तक्षकस्य"[39]

इत्थं किरातार्जुनयोः अद्भुतबाणकौशलस्य रामायणे वर्णितेन लक्ष्मण-मेघनादयोः राम-रावणयोः बाण-युद्धेन साकं साम्यं प्रतीयते।

अत्र कदाचिदर्जुनस्य पक्षः बलीयान् भवति कदाचित् शिवस्य पक्षः बलीयान्। तयोः अन्यूनत्वं न बोध्यते। शिवेन अर्जुनस्य सर्वे बाणाः नष्टाः। बाणरहिते अर्जुने शिवेन स्वबाणैः प्रहारः कृतः, परं न विचलितोऽर्जुनः, अपितु पुनः सिंहनादं कुर्वन् धनुना एव शिवं जघान[40]। तदपि शिवेन विफलीकृतः। तदनन्तरम् अर्जुनेन खड्गप्रहारः कृतः[41]। स खड्गोऽपि शिवेन खण्डितः। इत्थं धनुःकवच-बाणसमूह-खड्गादीनां विनाशेऽपि अर्जुनो न विचलितः, अपितु पाषाणैः शिवमुपरि प्रहारः कृतः भगवान्शिव तदपि व्यर्थीकृतः। तदनन्तरं तु अर्जुनस्य अद्भुतशौर्यस्य चित्रणं कृतमस्ति भारविणा यथा -**"उन्मज्जकर .... विषमविलोचनस्य वक्षः।।**[42] अर्जुनस्य अविनयमपि शिवः तथा एव सेहे यथा पिता पुत्रस्य अविनयं सह्यते। यथा च -

"अभिलषत उपायं विक्रमं कीर्त्तिलक्ष्म्यो-
रसुगमभरिसैन्यैरङ्कमभ्यागतस्य।
जनक इव शिशुत्वे सुप्रियस्यौकसूनो-
रविनयमपि सेहे पाण्डवस्य स्मरारिः।।[43]

अथ किरातार्जुनयोः बाहुयुद्धं प्रारभ्यते। शिवेनापि मुष्टिप्रहारः कृत अर्जुनमुपरि द्वयोर्मध्ये पूर्वं मुष्टियुद्धः जातः, अनन्तरं मल्लयुद्धः आरम्भः। अस्मिन् मल्लयुद्धे द्वयोर्मध्ये कोऽर्जुनः कश्च शिवः इति भ्रमोत्पन्नः। मल्लयुद्धस्यास्य रमणीयचित्रमुपस्थापयति महाकविः-

अयमसौ भगवानुत पाण्डवः स्थितमवाङ्मुनिना शशिमौलिनाः।
समधिरुढमजेन नु जिष्णुना स्विदिति वेगवशान्मुमुहे गणैः।।[44]

अस्मिन् मल्लयुद्धे कृतभुजध्वनिं कुर्वन् यदा शिवः वेगेन वियति परिप्लुतं, तदा मध्यमार्गे एव अर्जुनः वेगेन समीपं गत्वा शिवस्य चरणयोः निगृहीतवान्। एतस्य दृश्यस्याद्भुतं चित्रणं कृतमस्ति भारविणा यथा-

"वियति वेगपरिप्लुतमन्तरा समभिसृत्यरयेण कपिध्वजः।
चरणयोश्चरणानमितक्षितिर्निजगृहे तिसृणां जयिनं पुराम्।।"[45]

अर्जुनस्य अनेन कर्मणा विस्मितः शिवः स्वस्वरूपं प्रकटयति, अर्जुनमालिलिङ्गति च। यथा-

"विस्मितः सपदि तेन कर्मणा कर्मणां क्षयकरः परः पुमान्।
क्षेप्तुकाममवनौ तमक्लमं निष्पिपेष परिरभ्य वक्षसा।।"[46]

इत्थमनेन सन्दर्भेण महाकविना मतिविवेकयोः उत्साहेन साकं धैर्यस्य, शौर्येण साकं विवेकस्य मत्याश्च विलक्षणः सम्बन्ध उपस्थापितः। यः सहसम्बन्धः मानवानां कार्यसिद्धौ सर्वथा सहायकोऽनिवार्यश्च।

मानवस्य इयं जिजीविषा यत्कार्यसिद्धिपर्यन्तं संघर्षः कर्तव्यः प्रयत्नः कर्तव्यः, मानवेषु श्रेष्ठत्वं निश्चिनोति निर्धारयति च। पवित्रसाध्याय साधनमपि पवित्रं स्यादित्यपि शिक्षयति सन्दर्भोऽयम्।

1. काव्यालङ्कारः -5-4
2. साहित्यदर्पणम्- प्रथम परिच्छेदः।
3. वक्रोक्तिजीवितम्प्रथमोन्मेषः- का.सं.- 34-43
4. (क) धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
   करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।।"
   - काव्यालङ्कारः, भामहप्रणीतः
   (ख) चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
   काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरुप्यते।।
   -साहित्यदर्पणम्-प्रथम परिच्छेदः।
5. काव्यादर्शः- प्रथमपरिच्छेदः - का.सं. 22
6. किरात-प्रथमसर्गः- श्लोक सं.- 46, घण्टापथटीका
7. किरात- 3-17 ।
8. संस्कृतवाङ्मयस्य वृहद्इतिहासः चतुर्थखण्डः-पुरोवाक्तः- पृ.- 37 ।
9. किरात, 2-15
10. किरात- 18-14
11. भावप्रकाशनम्- दशमोऽधिकारः- का.सं.- 154, 158 ।
12. भावप्रकाशनम्- षष्ठाऽधिकारः- 87-91 ।
13. (क) वक्रोक्तजीवितम्-प्रथमोन्मेषः-का.सं.-21, वृत्तितः, उ.सं.-71
    (ख) किरात- 17-7 ।
14. किरात- 14-31 ।
15. किरात- 17-63 ।
16. किरात- 18-16 ।
17. किरात- 15-49 ।
18. किरात- 17-11
19. किरात- 17-3 ।
20. किरात-
21. किरात-
22. किरात- 17-8
23. किरात - 17-31
24. 11-61
25. 11-69
26. 16-18
27. 16-23

28. 16-24
29. 16-25
30. 16-36
31. 16-49
32. 16-54
33. 16-27
34. 16-64
35. 17-6
36. 17-6
37. 17-23
38. 17-24
39. 17-24
40. 17-51
41. 17-55
42. 17-63
43. 17-64
43. 17-64
44. 18-9
45. 18-12
46. 18-13

किरातार्जुनीयस्य पदप्रयोगवैशिष्ट्यम्

–डॉ. पंकजकुमारव्यासः

बृहत्त्रय्यां गण्यमानमन्यतमं महाकाव्यं "किरातार्जुनीयम्" इति ख्यातं भारवेरसाधारणपाण्डित्यकौशलान्वितोत्कृष्टप्रतिभाया द्योतकं भवति। यथा कालिदासः स्वीयोपमाप्रयोगैः सर्वत्र प्रख्यातिमगात्, तद्वत् महाकविभारविरपि 'अर्थगौरवाय' विद्वज्जगति भूयांश्चर्चितः। अत एव विपश्चिद्भिः "भारवेरर्थगौवम्" इति साह्लादमुद्गीर्यते। महाकाव्यस्यैतस्य टीकाकृन्मल्लिनाथः काव्यमेतन्नारिकेलफलेनोपमिनोति। बहिः अर्थगाम्भीर्यमूलक्लिष्टत्वात्, अन्तश्च सरसार्थत्त्वात् रसाप्लुतत्वम्। अत एवोक्तं घण्टापथव्याख्यायां मल्लिनाथेनारम्भे–

नारिकेलफलसम्मितं वचोः भारवे सपदि तद्विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथोचितम्॥

इति।

एवञ्च भारवेः नारिकेलफलोपमिता वाक् समाह्लादयति मनोनिलयं विदुषां रसमञ्जरीव। भारवेः विशिष्टपदप्रयोग एवार्थगौरवं स्फुटीकृत्य "भारवेरर्थगौरवम्" इत्युक्तिञ्चरितार्थीकरोति। यद्यपि भारविः बहुत्र सामान्यमपि पदं प्रयुक्ते, तथापि सामान्यं तत् प्रयुक्तं प्रसङ्गानुसारेण तादृशं गभीरमर्थं बोधयितुं शक्तं सत् 'शक्तं पदं' इति परिभाषितं चरितार्थीकुर्वद्, भारवेरर्थगौरवमिति अभियुक्तोक्तिं न्याय्यत्वं प्रापयति। "अर्थगौरवञ्च" नाम "अल्पीयाभिः पदैः विपुलानां भावानामभिव्यक्तिः" इति। एतादृश्याः स्फुटताया विषये भारविः स्वयमेव सूचयति स्वीये काव्ये। तथा हि–

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थतां गिरां, न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥

(कि.2/27)

अनेन यैः पदैः स्वीय स्फुटता=विशदर्शता न त्यक्ता, अर्थगौरवमपि स्वीकृतमेव तेषां प्रयोगः एव भारविना विहित इति सूचितम्। सम्प्रति तादृशानि पदानि स्वीकृत्य तद्वैशिष्ट्यम्, विषयगाम्भीर्यम्, प्रयोगसङ्गतिश्च यथामति प्रस्तूयते। तत्रादौ- 1.वर्णिलिङ्गि इति पदम्।

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं
प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम्।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ
युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः॥ (कि.1/1)

अत्र हि ब्रह्मचारिवेशवान् यः किरातः, तस्य प्रशस्तिं सूचयितुमयं प्रयोगः। तथा हि वर्णो नाम ब्राह्मणादितत्तद्वर्णोचितवसन्तादिकालमुपनयनम्, सोऽस्यास्तीति 'वर्णी'1 ब्रह्मचारीत्यर्थः। ''वर्णाद्ब्रह्मचारिणि'' (पा.सू.5/2/134) इति इनि प्रत्ययो मत्वर्थीयः। तस्य लिङ्गमस्यास्तीति वर्णिलिङ्गीति। अत्र प्रयोगे तदानीन्तनशासनव्यवस्थानुगुणं ब्रह्मचारिणां वैशिष्ट्यं प्रस्फुटितं भवति यत् पुराकाले यस्य कस्यचिदपेक्षया सर्वत्र देशे निर्बाधः प्रवेशः आसीत् ब्रह्मचारिणामतः तादृशं वेषवन्तं प्रेषितवान् युधिष्ठिरः सर्वमपि वृत्तान्तं ज्ञातुम्। एवञ्च न केवलं भारविनाऽत्र ब्रह्मचारिवृत्तिमुत तादृशवेषवन्तं सूचयितुं वर्णिलिङ्गी पदस्य प्रयोगः कृतोऽपितु तदानीन्तनव्यवस्थाऽपि सहसा निदर्शिता। अर्थात् अन्यस्मिन् वेषे कश्चिद्दूतो गच्छति चेत् कदाचित् संदिहानो गृहीतो भवेदतो ब्रह्मचारिवेषविशिष्टः प्रेषयितुमुचित इति सारः।

2.'चारचक्षुषः' इति पदम्।

क्रियासु युक्तैर्नृप! चारचक्षुषो
न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः।
अतोर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा
हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः॥ (कि.1/4)

अस्मिन् पदे स्वामिभिर्नियुक्तानामनुजीविनां भृत्यानां कर्तव्यपरायणता विश्वसनीयता च परिलक्षिता च भवति। तथा हि- चरतीति चराः। पचाद्यच्। त एव चराः। चरेः पचाद्यजन्तात्प्रज्ञादित्वादण्प्रत्ययः। त एव

चक्षुर्येषां ते चारचक्षुषः। ''स्वरमण्डले कार्याकार्यावलोकने चाराश्चक्षूंषि क्षितिपतीनाम्'' इति नीतिवाक्यामृते इत्थं मल्लिनाथः।[2] अत्र मल्लिनाथव्याख्यानेन स्पष्टं प्रतिपाद्यते यत् अनुचराः=सेवकाः=चाराः=दूताः वा एव चक्षुः येषां प्रभूनां ते प्रभवोऽनुजीविभिर्न वञ्चनीया इति वक्तुरभिप्रायोऽन्वयसङ्गतिश्च। न हि सर्वे राजानः स्वामिनो वा एकत्रोपविश्य समग्रं वृत्तान्तं ज्ञातुं प्रभवन्ति, तस्मात्तदर्थं नियुक्ताश्चाराः चक्षूरूपेण तत्तत्कार्याकार्यं समवलोकयन्ति। यदि त एव स्वीयान् प्रभून् वञ्चयेयुः तर्हि कर्तव्यपरायणताहानेरापत्तिरतः चारानिश्छलं व्यवहारं विदधीरन्। अत्र हि भारवेरयमेवाभिप्रायो यत् ये च प्रभवः केवलं चाराणां द्वारैव ज्ञातुं सर्वं शक्ता भवन्ति न कदाचित् ते वञ्चनीयाः चारैः। अनेन चाराणां महत्त्वं कर्तव्यपरायणतोभयमपि प्रतिपादितम्। एतदपेक्षया पदान्तरेण नैतादृशः गभीरोऽर्थः प्रकटितो भवेत्।

3.किंसखा इति पदम्।

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं
हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः।
सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं
नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः॥ (1/5)

अत्र हि प्रयोगे मित्रस्य मन्त्रिणो वा किं प्रथमं कर्तव्यं लक्षणं वेति सूचयति कविः यत् यः सखा स्वाधिपं साधु न शास्ति उपदिशति सः सखेति वक्तुमयोग्यः एव। यतो मन्त्रिणः सख्युः वा सतः प्रधानं कार्यं सदुपदेशः परन्तु यस्सखा न तथाकारः स किंसखा एव, निन्द्यः इत्यर्थः। अत्रार्थे पाणिनेरपि सम्मतिर्वर्तते यत् ''राजाहःसखिभ्यष्टच्'' (पा.सू.5/4/91) इति सूत्रेण विहितस्य समासान्तस्याचः किमः क्षेपे (पा.सू.5.4.70) इत्यनेन सूत्रेण निन्दायां गम्यमानायां प्रतिषेधात्। 'किं क्षेपे' (पा.सू.2/1/94) इत्यनेन समानाधिकरणसमासः। निन्द्यत्वं तु असदुपदेशत्वमिति बोध्यम्।

4.'दुरोदर' इति पदम्।

विशङ्कमानो भवतः पराभवं
नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिनः।
दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन
जेतुं जगतीं सुयोधनः।। (1/7)

अत्र 'दुरोदर' पदेन द्यूतक्रीडायां छद्मतां कुटिलतां च द्योतयति काव्यकारः। यथाऽऽह अमरः "दुरोदरो द्यूतकारे पणे द्यूते दुरोदरम्" इति।[3] दुष्टमासमन्तादुदरमस्य इति पृषोदरादित्वात् साधु बहुब्रीहिसमासः इति भानुजीदीक्षितोऽर्थयति। अनेन द्यूतकारस्य द्यूतक्रीडाया वा छद्मता द्योतिता यद्यत्र पूर्णतया दुष्टतैव निवसति। तादृशरीत्या या पृथ्वी अपहृता इत्यादिप्रसङ्गानुगुणमर्थः।

5.'दर्शयते' इति पदम्।

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः
समानमानान्सुहृदश्च बन्धुभिः।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः
कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम्।। (1/10)

अत्र दर्शयते इति प्रयोगेऽस्ति किञ्चिद्रहस्यम्। सः सुयोधनः सेवकान् सखीन् इव, सुहृदो बन्धुभिः समानमानान्, स्वामिवत् बन्धूंश्च दर्शयते (सेवते) इति। अत्र यद्यपि सुयोधनस्य नैतादृशः स्वभावः परन्तु छद्मजितपृथिवीपालकोऽयं सर्वेष्वपि विश्वासं सम्पादयितुं तथा प्रवर्तते। अत्र पश्यति इति प्रयोक्तव्ये 'दर्शयते' इत्यस्य प्रयोगात् अन्येषामेव दर्शयते न तु स्वयं पश्यति इति गूढतया सर्वान् एव वञ्चयति इत्यर्थः प्रकटितः जोनराजटीकायां।[4] 'दर्शयत' इति आत्मनेपदं 'णिचश्च' (पा.सू.1/3/74) इति सूत्रेण कर्तृगामिनि क्रियाफले णिजन्ताद्विहितम्। यद्यपि स्वीयव्यवहारेण सर्वान् तोषयति तथापि तत्तोषणवञ्चनया विश्वासं प्रापयति इति स्वयं फलभाग्भवति। कथन्नु अत्र वक्तव्यं भारवेर्निगूढार्थप्रकाशिका पदप्रयोगशैली।

6. 'गतस्मयः' इति पदम्। (कि.1/10)

पदमिदमत्र श्लोके दुर्योधनस्य विशेषणतया प्रयुक्तम्। एतस्माच्छ्लोकात् प्रागपि पूर्वस्मिन् श्लोके "कृतारिषड्वर्गजयेन" इति प्रयुक्तमासीत् दुर्योधनाय। वस्तुतः कामक्रोधलोभमानमदहर्षा ये षट् शत्रवः वर्तन्ते, एतैराक्रान्तः पूर्वमयं धृतराष्ट्रसुतः सुयोधन आसीत्। परन्तु एतान् षटशत्रून् जित्वाऽयं "गतस्मयः" (गतः अपगतः स्मयोऽभिमानः यस्य सः) सन् दुर्योधन सम्पन्नः। एवञ्च सुयोधनाय दुर्योधन इति प्रयोक्तुं हेतुरनेन पदेन प्रदर्शितः। अपि च "कृतारिषड्वर्गजयेन" इति पदस्यापि सार्थकतां समुपवर्णयामास भारविरनेन पदेन। परन्तु दुर्योधनस्तु केवलं वञ्चनामेव कुर्वन्नास्ते इति सूचयति जोनराजः स्वटीकायाम्। "गत इव स्मयोऽभिमानः यस्य सः गतस्मयः"[5] इति। अत्र इव शब्दः तात्पर्यग्राहकः यत् अभिमानः गत इव भाति वस्तुतस्तु न गत इत्यर्थः।

प्रस्तुतपद्ये-

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः
समानमानान्सुहृदश्च बन्धुभिः।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः
कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम्।। (1/10)

इत्यस्मिन् दुर्योधनस्य यो व्यवहारो लक्षितो भवति तत्र च हेतुः पूर्वस्मिन् पद्ये प्रयुक्तं "कृतारिषड्वर्गजयेन" इति पदम्-

कृतारिषड्वर्गजयेन मानवीमगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना।
विभज्य नक्तंदिवमस्ततन्द्रिणा वितन्यते तेन नयेन पौरुषम्।।
(कि.1/9)

यतः स्वानुजीविषु, सुहृत्सु बन्धुषु वा तादृशो व्यवहारस्तदैव सङ्गच्छते यदा सः कृतारिषड्वर्गजयेन नाम जितेन्द्रियो भवति। तत्त्वञ्च कामक्रोधलोभमानहर्षजयत्त्वम्। तद्वत्त्वञ्च जितेन्द्रियलक्षणमिति। तदित्थं षण्णां वर्गः षड्वर्गः, अरीणां षड्वर्गः अरिषड्वर्गः। कृतः अरिषड्वर्गजयो येन स तथाविधः। अनेन एकस्य सुराजस्य जितेन्द्रियत्वं, गतस्मयत्वं

(अहङ्काररहित्वं) बन्धुप्रजादिषु व्यवहारकौशलत्वञ्चेत्यादीनि लक्षणानि अपि सूचितानि।

6. मूढधियः इति पदम्।

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं
भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथा-
विधानसंवृताङ्गन्निशिता इवेषवः।। (1/30)

मूढधियः इत्यस्यार्थः मूढा धीर्येषां ते मूधधियः अर्थात् निर्विवेकबुद्धय इत्यर्थः। अत्र व्यक्तिविवेककृद् द्वितीयविमर्शे एतस्मिन् पदे आर्थी पुनरुक्ता वर्तते इति समुद्भावयति। अत्र भट्टमहिम्नोऽयमभिप्रायः स्याद्यत् मूढशब्दस्यार्थो मूर्ख इति 'मूढधीः' शब्दोऽपि तमेवार्थं प्रकटयति। किञ्च मूढत्वं नाम धीशून्यत्वञ्चेत् मूढधीरिति कथं? परन्तु कवेर्हृदयं ज्ञातुं न शक्तः व्यक्तिविवेककारः इति मन्ये। यतः वेदान्तसारे सदानन्दः उल्लिखति अज्ञानसन्दर्भे- ''अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं ज्ञानविरोधि यत्किञ्चित् वदन्त्यहमज्ञ'' इति । तत्रैव उद्धरति च-

अज्ञानं ज्ञातुमिच्छेद् यो मानेनात्यन्तमूढधीः।
स तु नूनं तमः पश्येत् ज्ञानेनोत्तमतेजसा।। इति।

अत्रापि पद्ये मूढधीः इति पदस्य प्रयोगो विद्यते। कथयितुश्चाभिप्रायः स्पष्ट एव। व्याख्यातारश्च वदन्ति- ''नाहं किञ्चिद्वेद्मि'' इति वदन् कश्चित् तावद्वा जानाति यद् सः न किञ्चिज्जानाति। तदज्ञानस्वरूपमिति। अत्रापि भारविना अज्ञानसन्दर्भ एव 'मूढधीः' इति पदस्य प्रयोगोऽकारि। तथा हि द्रौपदी युधिष्ठिरं बुबोधयिषया सूचयति ज्ञानविवेकयोश्च भेदमपि प्रकटयति यत् ज्ञात्वाऽपि द्यूतक्रीडायां प्रवृत्तिरज्ञानवशात् विवेकराहित्यादिति तात्पर्यम्। अतो भारवेरयं प्रयोगो नितरां युक्तः पुनरुक्तिदोषरहितश्च एतादृगर्थं निगूढं वक्तुं पुनरपि ''शक्तं पदम्'' इति परिभाषितञ्चरितार्थी करोति।

यच्चोक्तं पूर्वं 'मूढधीः' रिति कथमितिचेदुच्यते धियो मान्द्यत्वं नाम मूढत्वमिति स्वीकार्यम्। यद्वा अभावज्ञानं प्रति प्रतियोगिज्ञानस्य कारणातायाः सर्वसम्मतत्वात् धीशून्यत्वमिति वक्तुं धियः सत्त्वमपेक्षितम्। एतद्धि वेदान्तसारानुसारम् 'अज्ञानव्याख्यासन्दर्भे सङ्गच्छते। आहत्य 'मूढधी'रिति प्रयोग नात्र दुष्टः इति मेऽभिप्रायः।

7. 'आविष्कृतजिह्मवृत्तिना' इति पदम्।

अत्र चेदवधिः प्रतीक्ष्यते कथमाविष्कृतजिह्मवृत्तिना।
धृतराष्ट्रसुतेन सुत्यजाश्चिरमास्वाद्य नरेन्द्रसम्पदः॥

(2/16)

पदमिदं दुर्योधनस्य विशेषणत्वेन प्रयुक्तम्। आविष्कृता प्रकटीकृता जिह्मवृत्तिः कपटव्यापारो येनाऽसौ इत्यर्थ। अनेन पदेन दुर्योधनस्य स्वाभाविकीं मनोवृत्तिं सूचयति कविः। यतो निसर्गतो दुर्योधनः कपटव्यवहारः अतस्तादृशमर्थं बोधयितुं पदमिदम्। अपि च यस्यै राज्यलक्ष्मै भवता एकोऽवधिः (त्रयोदशवर्षपरिमितः) प्रतीक्ष्यते ताम् उपभुज्यापि कथमयं धृतराष्ट्रसुतः त्यजति अर्थात् अस्य मनोवृत्तिरेव तादृशी यत् प्रत्यक्षतया कपटव्यवहारे करोति, अधुना तु एतद्रसमास्वाद्य कथमपि सः न त्यक्षति, पुनरपि कपटं प्रदर्शयिष्यतीत्यर्थः। एवञ्चानेन पदेनैकया रीत्या मनोविज्ञानदृष्टिः प्रसारिता, यत् कश्चन लिप्सुः एकवारं कस्यचिद्वस्तु उपभोगं करोति तर्हि पुनस्तात् सरलतया न त्यजति इति।

8. 'अचिरांशुविलासचञ्चला' इति पदम्।

अभिमानधनस्य गत्वरैरसुभिः स्थास्नु यशश्चिचीषतः।
अचिरांशुविलासचञ्चला ननु लक्ष्मीः फलमानुषङ्गिकम्॥

(2/19)

पदमिदमस्ति लक्ष्मीविशेषणम्। तद्यथा– "लक्ष्मीर्हि चञ्चला, चपला इत्याद्युपमीयते। यतस्तस्याः स्वभावो हि नैकत्र चिरं तिष्ठति। एतादृशं स्वभावं वर्णयितुं कवेरयं यत्नः। तदुक्तं नृसिहकृदन्वयदीपिकाख्यटीकायां– अचिरं अंशवो यस्याः सा अचिरांशुः। अचिरांशोः विलासः अचिरांशुविलासः।

अचिरांशुविलासवत् चञ्चला अचिरांशुविलासचञ्चला। अचिरांशुः विद्युत्। तस्या विलासः स्फुरणं तद्वच्चञ्चला क्षणिकेत्यर्थः।।''[6] एवञ्च विद्युतः स्फुरणमिव क्षणिकवासिनी लक्ष्मीरिति विशेषणं लक्ष्म्यौ सुष्ठु प्रतिभाति। एतादृक्स्वभाववशादेव लक्ष्मीर्नाम चञ्चला, चपला, विद्युतादिभिः उपमिता बाणेन कादम्बर्यां शुकनासोपदेशे भृशं भर्त्सिता।[7]

9. 'आदर्श इव...' इति प्रयोगः।

अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे।
विमला तव विस्तरे गिरां मतिरादर्श इवाभिदृश्यते।।

(2/26)

अत्र श्लोके भीमस्य बुद्धिः कथं वाक्प्रपञ्चे प्रकटीभवति, तद्वक्तुं भारविः दर्पणेन उपमां प्रस्तावयति। तद् यथा दर्पणे वास्तविकीच्छटा प्रतिबिम्बं वा स्पष्टं प्रतीयते तद्वत् भवतो मतिरपि योजनान्वितप्रियहितकरे वाक्प्रचञ्चे स्पष्टं प्रतीयते। अत्रेदं वक्तव्यम्- दर्पणापेक्षया न हि अन्यस्मिन् कस्मिंश्चिद् वस्तुनि प्रतिबिम्बः स्पष्टं द्रष्टुं शक्यते। अतः तादृशीं स्पष्टतां स्पष्टीकर्तुं युधिष्ठिरः आदर्शेन उपमां प्रस्तौति। अतोऽत्रापि अन्यस्य पदस्यापेक्षया आदर्शपदस्य प्रयोगो विशेषतां भजते।

10. 'न च न स्वीकृतम्' इति नञ्द्वयप्रयोगः।

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्।।

(2/27)

पद्येऽस्मिन् भारविः युधिष्ठिरेण भीमस्य प्रशस्तिं प्रकटयन् स्वीयार्थगौरवोक्तिविषयिकीं ख्यातिमपि दृढीकरोति। अत्र हि 'न च न स्वीकृतमर्थगौरवमिति' नञ्द्वयघटितप्रयोगः अवश्यकर्तव्यतां बोधयति। अर्थात् अवश्यमेव स्वीकृतमित्यर्थः। नञ्द्वयप्रयोगो हि प्रकृतार्थं दृढयति इति प्रसिद्धमेव। एवञ्च भीमस्य वचसि अर्थगाम्भीर्यं नितरां वर्तते इति सूचयितुमेतादृशः प्रयोगः। द्रष्टुं सामान्योऽपि प्रयोगोऽयं नञ्द्वयप्रवेशेन वैशिष्ट्यमातनोति।

11. 'दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता' इति पदप्रयोगः।

क्व चिराय परिग्रहः श्रियां क्व च दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता।
शरदभ्रचलाश्चलेन्द्रियैरसुरक्ष्या हि बहुच्छलाः श्रियः॥
(2/39)

युधिष्ठिरस्य भीमं प्रतीयमुक्तिः। तत्र हि स सूचयति जितेद्रिय़ एव श्रियः रक्षणं कर्तुं पारयति यस्तु चलेन्द्रियोऽजितेन्द्रियो वा भवति न च स चिरं श्रीभाग् भवति। अत्र भारविः अजितेन्द्रियस्य लक्षणमित्थं ब्रवीति तेन पदस्य चारुता स्वयमेव प्रस्फुटीभवति। आदौ तावत् इन्द्रियः वाजिनः इव इति सूचयति, ततो विशेषयति पुनः दौष्ट्येन। ततश्च तद्वश्यताङ्गतेन विशेषणीकरोति। तदित्थम्- ''इन्द्रियाणि वाजिन इव इति इन्द्रियवाजिनः। दुष्टाश्च ते इन्द्रियवाजिनश्च दुष्टेन्द्रियवाजिनः। दुष्टेन्द्रियवाजिनां वश्यः वशङ्गतः दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यः। दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यस्य भावः दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता'' इति अन्वयदीपिकायां नृसिंहः। एवञ्चात्रेदृशी विवक्षा वर्तते यत् अजितेन्द्रियस्य चलेन्द्रियस्य इन्द्रियानिग्रहतां वक्तुं कविरेवं चारूपमितं पदं प्रयुङ्क्ते। अनेन व्यतिरेकेण इन्द्रियनिग्रहत्वेनैव जितेन्द्रियत्वं तत्सत्त्वे च श्रियः चिरस्थितिश्चेति परस्परं हेतुहेतुमद्भावमपि लक्ष्यीकरोति।

इत्थं कानिचन पदानि स्वीकृत्य तत्तत्पदस्य कथं तत्र विन्यासः श्लोके वर्तते तस्मादर्थगाम्भीर्यं पौर्वापर्यञ्च सर्वं सुष्ठु प्रकाशितं भवति इति प्रतिपादयितुमीषदयं प्रयासो मया व्यधायि। यद्यप्यत्र किरातार्जुनीये सन्ति बह्व्यः पदचमत्कृतयस्तथापि आदितः किञ्चित् स्वीकृत्य दिङ्मात्रमिह प्रास्ताविषमिति शम्।

पादटिप्पण्यः--

* सि. कौमुदी बालमनोरमा व्याख्याने ''वर्णाद्ब्रह्मचारिणि'' इति सूत्रे। पृ.सं. 588, भाग-2

* किरातार्जुनीयम् प्रथमसर्गस्य चतुर्थश्लोके मल्लिनाथटीकायाम्। पृ. सं. 5

* अमरकोशः तृतीयकाण्डम्, नानार्थवर्गे 171श्लोके। पृ.सं. 426

* किरातार्जुनीयम् टीकात्रयसहितम्, प्रथमसर्गः। पृ.सं. 15

* तत्रैव

* किरातार्जुनीयम् टीकात्रयसहितम्, द्वितीसर्गः। पृ.सं. 65

द्रष्टव्यम्- शुकनासोपदेशे चन्द्रपीडं प्रति शुकनासस्यावबोधनवर्णनम्। (कादम्बर्याम्) तदित्थम्- ''अपरिणाामोपसमो दारूणो लक्ष्मीमदः। इयं हि खड्गमण्डलोत्पलवनविभ्रमभ्रमरी लक्ष्मीः पारिजात-पल्लवेभ्यः रागं स्फटिकमणेः नैष्ठुर्यमुच्चैःश्रवसः चञ्चलतामिन्दु-सकलकान्तवक्रतामित्येतानि सहवासविनोदवसाच्चिह्नानि गुहीत्वैवोद्गता।..........''

* किरातार्जुनीयम्, टीकात्रयसहितम्, द्वितीयसर्गः। पृ.सं. 86

परिशीलिताः ग्रन्थाः-

* किरातार्जुनीयम्- घण्टापथव्याख्यासहित प्रकाशहिन्दीव्याख्योपेतम्, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशनम्, वाराणसी 1980

* किरातार्जुनीयम् (त्रैसर्गिकम्) नृसिंहप्रकाशवर्षजोनराजकृताभिः टीकाभिः विभूषितम् सम्पादकः- विरूपाक्ष वि.जड्डिपाल्, अमरग्रन्थपब्लिकेशन्स, दिल्ली 2009

* अमरकोषः, रामाश्रमीव्याख्योपेतम्, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, नवदेहली 2003

* सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमा-तत्त्वबोधिनीसहिता सं.- म.म गिरिध रशर्मोपाध्यायः, म.म. परमेश्वरानन्दशर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी 2004

श्रृङ्गारप्रकाशे रसावियोगप्रकाशनप्रकाशे उदाहृतानां किरातार्जुनीयपद्यानां विमर्शः

गोपालकुमार झा

भोजराजस्य श्रृङ्गारप्रकाशस्य एकादशप्रकाशे रसावियोगवर्णनमस्ति। अस्मिन् ग्रन्थे भोजराजः पूर्ववर्तिमहाकवीनां पद्यानि प्रसङ्गानुसारमुदाहरण-रूपेण उद्धरति। तेषु महाकविभारविविरचितस्य किरातार्जुनीयस्य पद्यानि प्रदत्तानि। तत्र कारणं वर्तते, यत् किरातार्जुनीयस्य समयः षष्ठशतके निश्चीयते। तथा भोजराजस्य समय एकादशशतके (1005-1055 ई यावत् राज्यकालः) स्वीक्रियते। भोजराजसमये किरातार्जुनस्य संस्कृतजगति महती प्रसिद्धिरासीत्। साहित्यशास्त्रीयपरम्परायां पूर्वकवीनां पद्यानां, विचाराणां वा प्रसङ्गानुसारमुदाहरणानि प्रदीयन्ते। एतामेव सरणिमनुसृत्य धारानरेशभोजराजोऽपि स्वग्रन्थे श्रृङ्गारप्रकाशे प्रसङ्गवशाद् तत्तत्स्थले किरातार्जुनीयपद्यानां प्रयोगं करोति। अत्र मया किरातार्जुनीयस्य मल्लिनाथ-कृतटीकामवलम्ब्य प्रयुक्तपद्यानां विमर्शः प्रस्तूयते।

साहित्यशास्त्रस्य व्यवस्थापक-आचार्यभरतेन अष्टौ रसाः, अष्टौ स्थायिभावाः, अष्टौ सात्त्विकभावाः, त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिभावाश्च स्वीकृताः। किन्तु भोजराजः कथयति यत् नाष्टौ रसाः, नाष्टौ स्थायिभावाः, नाष्टौ सात्त्विकभावाः, न त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिभावाश्च भवन्ति, अपितु एको रसःश्रृङ्गारः, तदाविर्भावहेतवश्च तत्प्रभवा एव एकोनपञ्चाशद्भावाः भवन्ति। यथा चोक्तम्-

श्रृङ्गार-वीर-करुणाद्भुत-रौद्र-हास्य-
बीभत्स-वत्सल-भयानक-शान्त-नाम्नः।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं
तु श्रृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः॥[1]

नन्वष्टौ स्थायिनोऽष्टौ सात्त्विकास्त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिण इति ब्रुवते? न तत्साधु।[2]

तदनन्तरम् एकादशप्रकाशे शृङ्गारस्य रसस्य वा भेदत्रयं कृतम्- 1. प्रकृष्ट:, 2. भावरूप:, 3. आभासश्च। यथा-

''तदुपाधिश्चायमुपजायमानो **रसस्त्रिधा** विख्यायते- 'प्रकृष्टो, भावरूप, आभासश्च''।[3]

अस्मिन् प्रसङ्गे आभासरूपभेदोऽपि द्विधा विभज्यते- 1. वाक्यविषय:, 2. प्रबन्धविषयश्च। तयो: वाक्यविषयकरसावियोगप्रसङ्गस्य वाक्यदोषाणामदोषप्रस्तावे शब्दहीनस्य क्वचिद् विवक्षातो गुणत्वमिति भवतीति प्रसङ्गे किरातार्जुनीयस्योदाहरणं ददाति। कथयति यत् 'षष्ठीप्रतिषेधोऽपि क्वचिद् विशेषवचनान्न भविष्यति। दृश्यते चेह महाकवीनामविभागेन प्रयोग:'। तद्यथा-

अपि वागधिपस्य दुर्वचं वचनं तद्विदधीत विस्मयम्[4]।।

इदं किरातार्जुनीयस्य द्वितीयसर्गस्य द्वितीयपद्यमस्ति। प्रसङ्गानुसारं द्रौपदी युधिष्ठिरं शत्रुकृतपीडाजनितदु:खस्य सुवचोभि: युद्धाय प्रेरयति। भीमश्च उपर्युक्तवचसा तां समर्थयति। भीमोऽपि युधिष्ठिरं युद्धाय प्रेरयति। भोजराजोऽत्र वागधिपस्य इत्यस्मिन् प्रयोगे षष्ठी चिन्तनीयास्ति न वा इति विचारं प्रस्तौति। तन्मतेऽत्र 'कर्तृकर्मणो: कृति'[5] इत्यनेन षष्ठी विहिता परं 'न लोकाव्यय-निष्ठा-खलर्थ-तृनाम्'[6] इत्यनेन षष्ठ्या: प्रतिषेध: कृत:। अतएव महाकविप्रयोग किमत्र चिन्त्य:। अस्मिन् प्रसङ्गे मल्लिनाथेन घण्टापथटीकायां परिहारद्वयं प्रदत्तम्। यथाहि- ''वागधिपस्य बृहस्पतेरपि दुर्वचं वक्तुमशक्यम्। शेषे षष्ठीयम्, न कृद्योगलक्षणा। अतो 'न लोक-' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधो नास्ति। तद्वचनं विस्मयं विदधीत। सर्वस्यापीति शेष:। अथवा वागधिपस्यापि विस्मयं विदधीतेति सम्बन्ध:।''[7] स्पष्टं यत् मल्लिनाथेनात्र कृद्योगे षष्ठी न स्वीकृता, 'शेषे षष्ठी'[8] इत्यनेन सूत्रेण विहितषष्ठीमवलम्ब्यात्र 'न लोक-' इत्यादिना षष्ठीनिषेधोऽत्र न

स्वीकृतः।

यदि च रत्यादयः प्रकर्षगामिनो भावा एव रसाः, कथमुच्यते भावेभ्यो रसा इति? रसेभ्यो भावा इत्यप्ययुक्तम्। न हि बहवो रसाः, अपि त्वेक एवशृङ्गारो रस इत्यग्रतोऽपि प्रबन्धेन प्रतिपादयिष्यते। यच्चोक्तं रसेभ्यश्च रसा इति, तत्र यद्यालम्बनविभावभूतेभ्य इति मतं, तदा- **शृङ्गारात् तु भवेद्धास्यो रौद्रात् तु करुणो रसः। वीराच्चैवाद्भुतो नाम बीभत्सात् तु भयानकः**[9]॥ इति नियमो न घटते-

अस्मिन् प्रसङ्गे किरातार्जुनीयस्य पद्यमुद्धृतम्। रौद्रादपि न दृश्यते, यथा-

निरीक्ष्य संरम्भनिरस्तधैर्यं राधेयमाराधितजामदग्न्यम्।
असंस्तुतेषु प्रसभं भयेषु जायेत मृत्योरपि पक्षपातः[10]॥

पद्यमिदं किरातार्जुनीयस्य तृतीयसर्गे वेदव्यासेन युधिष्ठिरं वीरकर्णस्य सामर्थ्यकथने प्रयुक्तम्।

अपि च-

बीभत्सादन्यतोऽपि भयानको दृश्यते, यथा-

यस्मिन्ननैश्वर्यकृतव्यलीकः पराभवं प्राप्त इवान्तकोऽपि।
धुन्वन्धनुः कस्य रणे न कुर्यान्मनो भयैकप्रवणं स भीष्मः[11]॥

पद्यमिदं किरातार्जुनीयस्य तृतीयसर्गे वेदव्यासेन युधिष्ठिरं भीष्मस्य सामर्थ्यकथने प्रयुक्तम्।

षट्प्रकारोऽलङ्कारसङ्करः सम्भवति- 1. गुणसङ्करः, 2. रससङ्करः, 3. अलङ्कारसङ्करः, 4. गुणरससङ्करः, 5. गुणालङ्कारङ्करः, 6. रसालङ्कारसङ्करश्चेति। तेषु **गुणरससङ्करो**ऽपि षोढा भवन्ति। 1. गुणप्रधानः, 2. रसप्रधानः, 3. उभयप्रधानः, 4. उभयाप्रधानः, 5. गुणाधिकः, 6. रसाधिकेति। यत्र गुणरसयोः मिश्रणं भवति, तत्र संङ्करव्यवहार प्रवर्तते।

क्वचित् गुणानां प्राधान्यं भवति, तत्र गुणप्रधानसङ्करः। कुत्रचिच्च गुणेषु सत्स्वपि रसस्य प्राधान्यं भवति, तत्र रसप्रधानसङ्करः। रसप्रधानसङ्करस्य निदर्शनरूपेण किरातार्जुनीयस्य पञ्चमसर्गात् श्लोक उद्धृतः। यथा-

अस्मिन्नगृह्यत पिनाकभृता सलील-
मारबद्धवेपथुरधीरविलोचनायाः।
विन्यस्तमङ्गलमहौषधिरीश्वरायाः
स्रस्तोरगप्रतिसरेण करेण पाणिः[12]॥

अस्मिन् श्लोके शिवपार्वत्योः परिणयः वर्णितः। मल्लिनाथमते अत्र आबद्धवेपथुः इति सात्त्विकोक्तिरस्ति। तन्मते चात्र सम्पूर्णश्लोके भाविकमित्यलङ्कारोऽस्ति। भाविकस्य लक्षणं भामहाचार्येण इत्थं कृतम्- "भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्। प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः[13]॥"

अत्र श्लाघ्यविशेषणयोग उदात्तत्वम्, बन्धविकटत्वमुदारता, अर्थप्राकट्यं प्रसादः, दीप्तरसत्वं कान्तिरिति गुणाः, साध्वसविलासानुरागसङ्गमरसैरतिशय्यन्त इति रसप्रधानः।

गुणालङ्कारयोः सङ्करत्वमपि भोजराजेन स्वीकृतम्। अत्राऽपि क्वचिद् गुणस्य प्राधान्यं क्वचिच्च अलङ्कारस्य इति प्राधानाङ्गभावेन गुणालङ्कारयोः सङ्करः प्रवर्तते।

गुणालङ्कारसङ्करोऽपि षोढा- 1. शब्दगुणप्रधानः, 2. अर्थगुणप्रधानः, 3. दोषगुणप्रधानः, 4. शब्दालङ्कारप्रधानः, 5. अर्थालङ्कारप्रधानः, 6. उभयालङ्कारप्रधानश्च। तेषु दोषगुणप्रधानसङ्करस्य उदाहरणतया किरातार्जुनस्य श्लोकोऽयमुद्धृतः। यथा-

येनापविद्धसलिलः स्फुटनागसद्मा
देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्थे।
व्यावर्तनैरहिपतेरयमाहिताङ्कः
खं व्यालिखन्निव विभाति स मन्दराद्रिः[14]॥

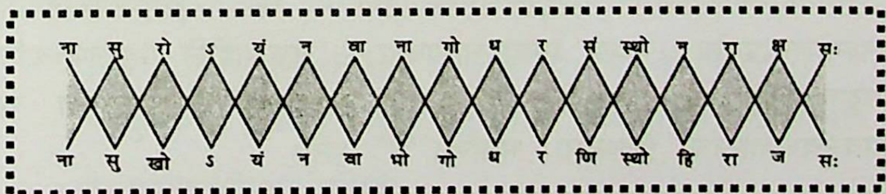
देवासुरैरित्यत्र 'येषां च विरोधः.......' इत्यनेन एकवद्भावो न भवति। मल्लिनाथस्य मतमस्ति यत् 'येषां यतः कार्यतो एव विरोधो न गोव्याघ्रादिवत् शाश्वतिकः इत्याहुः'। अतएव मल्लिनाथमतेऽपि तु देवासुरैः शाश्वतिकः विरोधो नास्ति। अतएव अत्र एकवद्भावोऽपि न। परं भोजराजमते अत्र नित्यवैरविवक्षायां बहुवचनं प्रयुक्तम्। परं दोषोऽपि अत्र गुणवद् प्रतीयते अतएव अत्र दोषगुणप्रधानसङ्करोऽस्ति। उत्प्रेक्षालङ्कार अत्र अप्रधानरूपेण तिष्ठति।

अत्र 'व्यावर्तनैरहिपतेरयमाहिताङ्कः' इति ज्ञापकहेतोः 'खं व्यालिखन्निव' इति उत्पेक्षावयवाच्च, देवासुरैरिति नित्यवैरविवक्षायां बहुवचनम्, 'अमृतमम्बुनिधिर्ममन्थे' इति 'द्विकर्मकेषु जिप्रभृतीनामुपसंख्यानम्' इति अमृतशब्दाद् द्वितीया इति दोषगुणयोः प्राधान्यं प्रतीयते। अस्मिन् पद्ये किरातार्जुनीये कविना हिमालयोन्नतशिखरस्य वर्णनं कृतम्।

महाकाव्यस्य लक्षणप्रसङ्गे सर्गाणां वैशिष्ट्यं कथयता भोजराजेन उक्तं यत् ''**दुष्करसमसंस्कृतादिसर्गत्वमि**त्यनेन गोमूत्रिकामुरजबन्धैकाक्षरपादयमकमाषाचित्रादय उपलक्ष्यन्ते।'' एतेषु गोमूत्रिकाबन्धस्य उदाहरणरूपेण किरातार्जुनस्य पञ्चदशसर्गात् श्लोक उद्धृतः। यथा-

नासुरोऽयं न वा नागो धरसंस्थो न राक्षसः।
ना सुखोऽयं नवाभोगो धरणिस्थो हि राजसः[15]॥

गोमूत्रिकाबन्धेऽस्य सन्निवेशोऽत्र प्रस्तूयते-



मल्लिनाथेनाऽपि अत्र गोमूत्रिकाबन्धः स्वीकृतः। यथाहि- ''वर्णनामेकरूपत्वं यद्येकान्तरमर्धयोः। गोमूत्रिकेति तत्प्राहुर्दुष्करं तद्विदो

विदु:।।'' इति।[16]

महाकाव्यस्य लक्षणव्याख्याप्रसङ्गे भोजराजेन एतदपि उल्लिखितं यत् महाकाव्यस्य सर्वेषु सर्गेषु यः अन्तिमः श्लोकः भवति सः कविभावाङ्कितः दृश्यते। अयं भावः विविधरूपेण प्राप्यते। यथा- 1. स्वाभिप्रायाङ्कता, 2. स्वनामाङ्कता, 3. इष्टनामाङ्कता, 4. मङ्गलाङ्कता, 5. आशंसाङ्कता च'। एतेषु इष्टनामाङ्कतायाः उदाहरणत्वेन तेनोक्तं 'यथा लक्ष्म्यङ्कता किराते भारवेः'[17]। भारविविरचितकिरातार्जुनीये अष्टादशसर्गाः सन्ति। प्रतिसर्गस्यान्तिमश्लोके लक्ष्मी इति शब्दस्य प्रयोगः प्राप्यते। यथा प्रथमसर्गान्तश्लोकः-

विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं
शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः।।[18]

अथवा च-

व्रज जय रिपुलोकं पादपद्मानतः स-
न्गदित इति शिवेन श्लाघितो देवसङ्घैः।
निजगृहमथ गत्वा सादरं पाण्डुपुत्रो
धृतगुरुजयलक्ष्मीर्धर्मसूनुं ननाम।।[19]

अत्र मल्लिनाथेनाऽपि अस्मिन् विषये विवेचितः- ''चमत्कारकारितया मङ्गलाचरणरूपतया च सर्गान्त्यश्लोकेषु लक्ष्मीशब्दप्रयोगः। यथाह भगवान्भाष्यकारः- 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाण्यायुष्मत्पुषकाणि च भवन्त्यध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति।''[20] इति।

महाकाव्यलक्षणवर्णनप्रसङ्गे भोजराजः कथयति- 'शैलवर्णनं यथा किरातार्जुनीये'[21]। अस्मिन् प्रसङ्गे किरातार्जुनीयस्य पञ्चमसर्गे शैलवर्णनमत्र

द्रष्टव्यम्। यथा-

अलमेष विलोकितः प्रजानां
सहसा संहतिमंहसां विहन्तुम्।
घनवर्त्म सहस्रधेव कुर्वन्हि-
मगौरैरचलाधिपः शिरोभिः॥

इह दुरधिगमैः किञ्चिदेवागमैः
सततमसुतरं वर्णयन्त्यन्तरम्।
अमुमतिविपिनं वेद दिग्व्यापिनं
पुरुषमिव परं पद्मयोनिः परम्॥

रुचिरपल्लवपुष्पलतागृहै-
रुपलसज्जलजैर्जलराशिभिः।
नयति संततमुत्सुकतामयं
धृतिमतीरुपकान्तमपि स्त्रियः॥[22]

सैन्यावासवर्णनं यथा शिशुपालवध-किरातार्जुनीय-रावणविजय-रघुवंशादौ।[23]

किरातार्जुनीये चतुर्दशसर्गे सैन्यादिवर्णनं द्रष्टव्यम्।

रात्रिवर्णनं यथा किरातार्जुनीय-कुमारसम्भव-शिशुपालवध-हयग्रीववधादौ।[24]

किरातार्जुनीयस्य नवमसर्गे रात्रिवर्णनं द्रष्टव्यम्। यथा-

उद्‌गतेन्दुमविभिन्नतमिस्रां पश्यति स्म रजनीमवितृप्तः।
व्यंशुकस्फुटमुखीमतिजिह्मां व्रीडया नववधूमिव लोकः॥

न प्रसादमुचितं गमिता
द्यौर्नोद्धृतं तिमिरमद्रिवनेभ्यः।
दिङ्‌मुखेषु न च धाम
विकीर्णं भूषितैव रजनी हिमभासा॥[25]

प्रभातपूर्वाह्णमध्याह्नवर्णनानि शिशुपालवध-रामचरित-उत्तररामचरित-किरातार्जुनीयादौ।[26]

प्रभातवर्णनं किरातार्जुनीयस्य नवमसर्गे प्राप्यते। यथा-

कान्ताजनं सुरतखेदनिमीलिताक्षं
संवाहितुं समुपयानिव मन्दमन्दम्।
हर्म्येषु माल्यमदिरापरिभोगगन्धा-
नाविश्चकार रजनीपरिवृत्तिवायुः।।

आमोदवासितचलाधरपल्लवेषु
निद्राकषायितविपाटललोचनेषु।
व्यामृष्टपत्त्रतिलकेषु विलासिनीनां
शोभां बबन्ध वदनेषु मदावशेषः।।[27]

चन्द्रोदयवर्णनं यथा कुमारसम्भव-किरातार्जुनीय-शिशुपालवध-सेतुबन्धादाविति।[28]

चन्द्रोदयवर्णनं किरातार्जुनीयस्य नवमसर्गे प्राप्यते। यथा-

नीलनीरजनिभे हिमगौरं शैलरुद्धवपुषः सितरश्मेः।
खे रराज निपतत्करजालं वारिधेः पयसि गाङ्गमिवाम्भः।।

द्यां निरुन्धदतिनीलघनाभं ध्वन्तमुद्यतकरेण पुरस्तात्।
क्षिप्यमाणमसितेतरभासा शम्भुनेव करिचर्म चकासे।।[29]

मन्त्रः पञ्चाङ्गः कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसम्पत् देशकालविभागः विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिश्चेति। स यथा किरातार्जुनीय-शिशुपालवध-हयग्रीववध-भट्टिकाव्यादौ।[30]

मन्त्रः किरातार्जुनीये महर्षिवेदव्यासो द्वैतवने युधिष्ठिरादिपाण्डवान् प्रत्यागच्छति। स्वागमनस्य प्रयोजनञ्च सूचयति-

महत्त्वयोगाय महामहिम्नामा-
राधनीं तां नृप देवतानाम्।

दातुं प्रदानोचित भूरिधाम्नी-
मुपागतः सिद्धिमिवास्मि विद्याम्॥

इत्युक्तवन्तं व्रज साधयेति
प्रमाणयन्वाक्यमजातशत्रोः।
प्रसेदिवांसं तमुपाससाद
वसन्निवान्ते विनयेन जिष्णुः॥[31]

कौरवेण सह रणाय शक्तिरर्जुनीयेऽभिप्रायेण वेदव्यासः अर्जुनाय सिद्धमन्त्रं प्रददाति। यथा हि-

निर्याय विद्याथ दिनादिरम्याद्-
बिम्बादिवार्कस्य मुखान्महर्षेः।
पार्थाननं वह्निकणावदाता
दीप्तिः स्फुरत्पद्ममिवाभिपेदे॥

योगं च तं योग्यतमाय तस्मै तपःप्रभावाद्वितताार सद्यः।
येनास्य तत्त्वेषु कृतेऽवभासे समुन्मिमीलेव चिराय चक्षुः॥[32]

अनेन योगेन विवृद्धतेजा निजां परस्मै पदवीमयच्छन्।
समाचराचारमुपात्तशस्त्रो जपोपवासाभिषवैर्मुनीनाम्॥[33]

प्रयाणं त्रिविधं भवति यथा ह्युक्तं भोजराजेन- "**प्रयाणं** त्रिधा-स्वशक्त्युपचये, परव्यसने, अभिमतार्थसिद्धये च। तत्र **अभिमतार्थसिद्धये** यथा विष्णोः पारिजातहरणाय हरिविजये, यथा वा दिव्यास्त्रलाभायार्जुनस्य किरातार्जुनीय इति।"[34]

किरातार्जुनीयस्य तृतीयसर्गे अर्जुनो दिव्यास्त्रलाभाय इन्द्रकीलपर्वतं प्रति प्रयाणं करोति। यथा-

अविलङ्घ्यविकर्षणं परैः प्रथितज्यारवकर्म कार्मुकम्।
अगतावरिदृष्टिगोचरं शितनिस्त्रिंशयुजौ महेषुधी॥

यशसेव तिरोदधन्मुहुर्महसा गोत्रभिदायुधक्षतीः।

कवचं च सरत्नमुद्वहज्ज्वलितज्योतिरिवान्तरं दिवः।।

अलकाधिपभृत्यदर्शितं शिवमुर्वीधरवर्त्म सम्प्रयान्।
हृदयानि समाविवेश स क्षणमुद्बाष्पदृशां तपोभृताम्।।[35]

सङ्ग्रामस्त्रिधा- समो, विषमः, समविषम इति। तत्र **समविषमो** यथा महेश्वरार्जुनयोः किरातार्जुनीये, रघुमघोनोर्वा रघुवंश इति।[36]

किरातार्जुनीयस्य अष्टादशसर्गे शिवार्जुनयोः सङ्ग्रामः वर्णितः यः देवमनुष्ययोः युद्धस्योदाहरणमस्ति। अत समविषमसङ्ग्रामः यथा-

तत उदग्र इव द्विरदे मुनौ रणमुपेयुषि भीमभुजायुधे।
धनुरपास्य सबाणधि शङ्करः प्रतिजघान घनैरिव मुष्टिभिः।।

हरपृथासुतयोर्ध्वनिरुत्पतन्नमृदुसंवलिताङ्गुलिपाणिजः।
स्फुटदनल्पशिलारवदारुणः प्रतिननाद दरीषु दरीभृतः।।[37]

''वनविहारजलक्रीडामधुपानमानापगमरतोत्सवादिवर्णनमित्यनेन रसोद्दीपनविभावस्य सम्भोग शृङ्गारस्य उपदेशान्मन्त्रदूतप्रयाणसङ्ग्रामाभ्युदयादिभिस्तांस्तानर्थानधिगम्यतैस्तैर्विलासविशेषैः कामसेवया तदुपयोगः कर्तव्य इति शिक्षयति। तत्र **वनविहारो** द्विधा- मृगयादिभिः पुष्पापचयादिभिश्च। **द्वितीयो** यथा यदूनां शिशुपालवधे, अप्सरसां वा किरातार्जुनीये इति।''[38]

अप्सरसां वनविहारः किरातार्जुनीयस्य अष्टमसर्गे वर्णितः। यथा-

अथ स्वमायाकृतमन्दिरोज्ज्वलं
ज्वलन्मणि व्योमसदां सनातनम्।
सुराङ्गना गोपतिचापगोपुरं पुरं
वनानां विजिहीर्षया जहुः।।

यथायथं ताः सहिता नभश्चरैः
प्रभाभिरुद्धासितशीलवीरुधः।
वनं विशन्त्यो वनजायतेक्षणाः

क्षणद्युतीनां दधुरेकरूपताम्॥[39]

"**मधुपानं** द्विधा- गोष्ठीगृहे वासभवने च। तत्र **द्वितीयं** यथा कुमारसम्भवे किरातार्जुनीये च।[40]" अप्सरसां वर्णनप्रसङ्गे किरातार्जुनीये मधुपानमपि वर्णितम्। यथा-

भर्तृभिः प्रणयसम्भ्रमदत्तां वारुणीमतिरसां रसयित्वा।
ह्रीविमोहविरहादुपलेभे पाटवं नु हृदयं नु वधूभिः॥

स्वादितः स्वयमथैधितमानं लम्भितः प्रियतमैः सह पीतः।
आसवः प्रतिपदं प्रमदानां नैकरूपरसतामिव भेजे॥[41]

"**रतोत्सवो**ऽपि द्विधा- सामान्यतो विशेषतश्च। **सामान्यतो** यथा किरातार्जुनीये शिशुपालवधे च।"[42] किरातार्जुनीये स्वर्गादप्सरसाम् आगमनप्रसङ्गे तासां प्रियतमैः सह रतोत्सवो वर्णितः। यथा-

योषिदुद्धतमनोभवरागा मानवत्यपि ययौ दयिताङ्कम्।
कारयत्यनिभृता गुणदोषे वारुणी खलु रहस्यविभेदम्॥

आहिते नु मधुना मधुरत्वे
चेष्टितस्य गमिते नु विकासम्।
आबभौ नव इवोद्धतरागः
कामिनीष्ववसरः कुसुमेषोः॥[43]

"**देशकालपात्रचेष्टाकथान्तरानुषञ्जनमित्यनेन** परिपूर्णाङ्गेऽपि संविधानके देशकालाद्यविरोधेन तद्वर्णनादिकं निर्दिशति। तत्र **कालान्तरानुषञ्जनं** यथा किरातार्जुनीये"

सपदि हरिसखैर्वधूनिदेशाद्ध्वनितमनोरमवल्लकीमृदङ्गैः।
युगपदृतुगणस्य सन्निधानं वियति वने च यथायथं वितेने[44]**॥**

पात्रान्तरानुषञ्जनं यथा किराते वेदव्यासकृतगुह्यकपात्रस्याविर्भावः-

करिष्यसे यत्र सुदुश्चराणि प्रसत्तये गोत्रभिदस्तपांसि।
शिलोच्चयं चारुशिलोच्चयं तमेष क्षणान्नेष्यति गुह्यकस्त्वाम्[45]॥

चेष्टान्तरानुषञ्जनं यथा किरातार्जुनीये किरातार्जुनयोर्युद्धप्रसङ्गे अर्जुनमुखेन कविरस्य युद्धस्य वैलक्षण्यं प्रदर्शयति। यथा-

मदस्रुतिश्यामितगण्डलेखाः
क्रामन्ति चिक्रान्तनराधिरूढाः।
सहिष्णवो नेह युधामभिज्ञा
नागा नगोच्छ्रायमिवाक्षिपन्तः[46]॥

इत्थं रसावियोगप्रकाशनप्रकाशे भोजराजेन रससम्बद्धयोजनाप्रसङ्गे महाकाव्यलक्षणव्याख्याप्रसङ्गे च बहुशः किरातार्जुनीयमहाकाव्यमुद्धृतं येन महाकाव्यस्यास्य तस्मिन् युगे प्रसिद्धिः परिलक्ष्यते।

।इति शम्॥

---

1. शृ. प्र. प्र. प्र. श्लो.-6
2. शृ. प्र. एका. प्र. पृ. सं.-615
3. शृ. प्र. एका. प्र. पृ. सं.-616
4. किरात. 02.02
5. पा. अ.- 2.3.65
6. पा. अ.- 2.3.69
7. किरात. मल्लिनाथटीका पृ. सं.-34
8. पा. अ.- 2.3.50
9. ना. शा. 6.38
10. किरात. 03.21
11. किरात. 03.19
12. किरात. 05.33
13. काव्यालङ्कारः- 3.53
14. किरात. 05.30
15. किरात. 15.12
16. किरात. पृ. सं.- 435
17. शृ. प्र. एका. प्र. पृ. सं.-680

18. किरात. 01.46
19. किरात. 18.48
20. किरात. पृ. सं.- 32
21. शृ. प्र. एका. प्र. पृ. सं.-681
22. किरात. 05.17-19
23. शृ. प्र. एका. प्र. पृ. सं.-681
24. शृ. प्र. एका. प्र. पृ. सं.-681
25. किरात. 09.24-25
26. शृ. प्र. एका. प्र. पृ. सं.-682
27. किरात. 09.76-77
28. शृ. प्र. एका. प्र. पृ. सं.-682
29. किरात. 09.19-20
30. शृ. प्र. एका. प्र. पृ. सं.-682
31. किरात. 03.23-24
32. किरात. 03.25-26
33. किरात. 03.28
34. शृ. प्र. एका. प्र. पृ. सं.-682
35. किरात. 03.57-59
36. शृ. प्र. एका. प्र. पृ. सं.-683
37. किरात. 18.01-02
38. शृ. प्र. एका. प्र. पृ. सं.-683
39. किरात. 08.01-02
40. शृ. प्र. एका. प्र. पृ. सं.-683
41. किरात. 09.54-55
42. शृ. प्र. एका. प्र. पृ. सं.-684
43. किरात. 09.68-69
44. किरात. 10.18
45. किरात. 03.29
46. किरात. 16.02

किरातशिशुपालवधयोः लोकजीवनम्

–डॉ. महेशकुमार द्विवेदी

आश्रुतिकालान्नितरामावहन्तीयं काव्यधारा स्वगीर्वाणवाण्या लोकाभ्युदययुतान्नैकविधभावान् "लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणादि"ति मम्मटमतेन लोकानुप्राणितां कामप्यपूर्वां रसादिसम्पृक्तां वार्तामभिव्यनक्ति। भारतीयपरम्परायां सुखान्तनिर्व्यूढाः कथाप्रसङ्गाः लोकविज्ञान्त्यादयश्च तथ्याः सर्वत्र काव्ये प्रामुख्येन तिष्ठन्त्येव। न तत्साहित्यं न च काव्यं सुखावहं यत्र लोकव्यवहारस्य शास्त्रसमन्वितेश्च प्राधान्यं न स्यात् तथा हि–

यत्र लोकस्य विश्रान्तिर्भावानां यत्र चारुता।
श्रुतीनां पूर्णता यत्र तत्साहित्यं सुखास्पदम्।।[1]

अपि शास्त्रेषु कुशला लोकाचारविवर्जिताः।
सर्वे वै हास्यतां यान्ति यथा ते मूर्खपण्डिताः।।[2]

(पञ्चतन्त्रम्)

तदत्र महाकवीनां महाकाव्येषु बृहद्रूपेण लोकव्यवहारपरम्परा आचारविचार शिल्पसंवादादीनामाविर्भावः प्रतिफलति। बृहत्काव्येषु त्रयीतिसंज्ञा लभ्यमानेषु महाकाव्येषु उक्तद्वयमाश्रित्य लोकजीवनमूलकान् भावान् सङ्कलय्य विचारप्रसङ्गेऽस्मिन् लोकजीवनपदेन समाजोपयोगिजीवनमेव व्यवह्रियते। यत्र समाजस्य (जनसमुदायस्य) कश्चित् विकासः स्यात्। महाभारतानन्तरं विरच्यमानेषु महाकाव्येषु विशेषतो बृहत्त्रयीत्यत्र व्यवहारदृष्ट्या लोकप्रियकथानकेन च किरातशिशुपालयोः प्राधान्यं तिष्ठति। अत्र शास्त्रव्यवहारसाम्यरीत्या बृहत्समाजचित्रणमप्यवलोक्यते।

मानवीयमूल्यविकासरीत्या विविधवर्णनोपवर्णितानि महाकाव्यानि विश्वस्मिन् विश्वे लोकजीवनपथप्रदर्शकान् भावान् अभिव्यक्तीकुर्वन्ति

वाग्वैदग्धप्रधानेनात्र। किराते पर्वतवर्णन-वनविहारवर्णन-संध्यावर्णन-तपोवर्णनादिप्रसङ्गेषु लोकजीवनपरका ये पक्षा एवञ्च शिशुपालवधे मन्त्रणावर्णन-ऋतुवर्णन-सभावर्णन-समुद्रवर्णनप्रसङ्गेषु लोकोपादेया ये भावाः तत्रागताः तत्तत्स्थलेषूपलभ्यन्ते च यानि लोकजीवनानि तदेवात्र प्रस्तोष्यते अस्मिन् विमर्शे।

किरातशिशुपालवधयोः लोकजीवनस्य मार्मिक्यः काव्याभिव्यक्तयो द्रष्टव्याः। लोकजीवनस्य सुखदुःखयो उन्नतावनतभावयोश्च स्मारयन्ती द्रौपदी किराते युधिष्ठिरं प्रति ब्रवीति-

पुराधिरूढं शयनं महाधनं बिवोध्यसे यः स्तुतिगीतमङ्गलैः।
यदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः॥

(किरात.)[3]

तदानीं लोके लोकाराधानपरम्परायां देवाराधनाया वैशिष्टमासीदित्यनेन पद्येन ज्ञायते। भारवेरर्थगौरवे विनिश्चतार्थायां वाचि पदे पदे लोकजीवने कल्याणकारका आयामाः विराजन्ते। कथावस्तुन इतिहासप्रसिद्धा लोकख्यातिस्तत्र सिद्धैव।

"इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्" (सा.द.)[4]

अथ च शिशुपाले लोके देवप्रधाना देवाराधानपरका च संस्कृतिस्तदानीं आसीत्। या अद्यापि सापेक्षिता वर्तते-

श्रुतिसमधिकमुच्चैः पञ्चमं पीडयन्तः
सततमृषभहीनं भिन्नकीकृत्य षड्जम्।
प्रणिजगदुरका कुश्रावकस्निग्धकण्ठाः
परिणतिमिति रात्रे मागधाः माधवाय॥ (शि.व.)[5]

लोकाचारव्यवहारज्ञानाय प्रवर्तितमेतत्साहित्यं महाकाव्यरूपेण पल्लवितम्। तत्र संवादशिल्प-लोकप्रियकथानकतया रसादिसम्पृक्तया वाण्या लोकजीवनस्यानन्दमयी प्रतिच्छविः निस्सरति। भारतीयसंस्कृतौ यथा समग्रमपि जीवनं चतुर्ष्वाश्रमेषु परिकल्पितं तथैवात्र महाकाव्येषु प्राकृतिकजीवनम्,

अरण्यजीवनम्, आध्यात्मिकजीवनं वा मद्दृष्ट्या लोकजीवनमर्हति। अत्र किरातशिशुपालवधयोः लोकमाङ्गल्यप्रवर्तकानि पद्यानि सङ्कलय्य समीक्षणात्मिका चर्चा विधास्यतेऽस्मिन् गोष्ठीकार्यक्रमे।

किरातकालिकं लोकजीवनम्-

प्रकृतिरमणीयो हि कविभारविः चतुर्थसर्गेऽर्जुनस्य इन्द्रकीलपर्वते प्रस्थानसमये तदानीं प्रकृतेः रम्यतामुपस्थापयन् कविरत्र वर्णयति यत् सायङ्काले तरङ्गायमानानि क्षौमवस्त्रवन्नदीनां सिकतापूर्णानि तटानि अपश्यदर्जुनः। अनेन तदानीन्तनस्य लोकजीवने प्राकृतिकं सौन्दर्यं पर्यावरणविषयणीं सामाजिकचेतनां जागरयति सन्दिशति च कविर्यत् प्रकृतेः समाजसौख्यम्-

कृतोर्मिरेखं शिथिलत्वमायया शनैः शनैः शान्तरयेण वारिणा।
निरीक्ष्य रेमे स समुद्रयोषितां तरङ्गितक्षौमविपाण्डुसैकतम्।।[6]

अस्मिन्नेव प्रस्थानकाले अर्जुनेन अकृत्रिमसौन्दर्ययुतानि मानवैरधिष्ठितानि लतागृहाण्यपि दृष्टानि। यत्र प्रकृतेः काचिदपूर्वा शोभाऽऽसीत्, तदानीं जीवने प्राकृतिकसमृद्धिरासीदित्यनेन स्पष्टः सङ्केतः प्राप्यते। तथा हि-

जनैरुपग्राममनिन्द्यकर्मभिर्विविक्तभावेङ्गितभूषणैवृताः।
भृशं ददर्शाऽऽश्रममण्डपोपमाः सपुष्पहासाः स निवेशवीरुधः।।[7]

एवमुक्तिर्लोके प्रचलिता यत् यदा कश्चन जनः लक्ष्यमवाप्तये सोत्साहेन कार्यं प्रारभते, तदा तत्सहयोगः प्रकृत्यापि क्रियते। लोकस्य कृष्यादीनि कर्माणि कृतार्थयन्ती निर्जलमेघा इयं सन्निहिता शरत् तव विजयलक्ष्मीं विस्तारयतु। अनेन समाजे प्रकृतिसहयोगो ज्ञायते-

इयं शिवाया नियतेरिवाऽऽयतिः
कृतार्थयन्ती जगतः फलैः क्रियाः।
जयश्रियं पार्थ! पृथूकरोतु ते
शरत्प्रसन्नाऽम्बुरनम्बुवारिदा।।[8]

लोकजीवने निष्ठाभक्तेः यथासमयं फलोत्पादकानामनुष्ठानादि कार्याणां सम्पादने सम्मानार्हता स्वयमेव समायाति, इमामवस्थां बोधयितुं निवेदयति युधिष्ठरो मुनिव्यासं प्रति-

अद्य क्रियाः कामदुघाः क्रतूनां
सत्याशिषः सम्प्रति भूमिदेवाः।
आ संसृतेरस्मि जगत्सु जातस्
त्वय्यागते यद्बहुमानपात्रम्॥[9]

लोके तत्तत्कार्यसमपादने गुरोरमोघः कश्चन प्रभावो भवति। मानवोपरि तेनैव तत्तत्कायनिर्वाहोऽनिष्टादिपरिहारश्च जायते। सश्च प्रभावः लोककल्याणं कीर्त्तिञ्च विस्तारयति। किं बहुना सर्वं साधयतीति तत्प्रभाव इति ब्रवीति महाराजो युधिष्ठिरो व्यासं प्रति। अनेन लोकरक्षा कीर्तिश्च पुष्णाति समाजे तथाहि-

श्रियं विकर्षत्यपहन्त्यघानि श्रेयः
परिस्नौति तनोति कीर्तिम्।
सन्दर्शनं लोकगुरोरमोघं
तवात्मयोनेरिव किं न धत्ते॥[10]

कवीनां लोकव्यवहारचातुर्यं तत्सूक्तिषु सुष्पष्टतया बोध्यते ''हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः'', न स सखा साधु न शास्ति योऽधिपं, वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः, न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः इत्यादिषु कालजयीसूक्तिषु लोकसेवकानां स्वामिनं प्रति निष्ठाभक्तिं सुस्पष्टयति। किरातकालिके समाजे स्वामिभक्तः कर्मठदूतश्च भवति स्म। द्रौपद्या सहाधिवसानैः पाण्डवैः नियुक्तोऽयं वनेचरो दुर्योधनपक्षतः गोप्यां वार्ता समानीय युधिष्ठिरं निवेदयति- इत्यनेन प्रसङ्गेन तदानीं लोके विश्वस्तमयी गुप्तचरव्यवस्थासीदिति, यया विपक्षिणो वार्ताबोधो जायते। वनेचरनिवेदनेनात्र सदाचार-लोकमर्यादा-विश्वप्रियता-तत्विज्ञता च पदे पदे परिलक्ष्यते। अवबुध्यते च गुप्तचरस्वामिमध्ये आदर्शभूतं लोकचित्रणङ्कवेः, वनेचरस्योक्तिं प्रशंसयता युधिष्ठिरेणोच्यते एतत्।

गुप्तचरनिवेदनं निशम्य द्रौपदी तत्काल एव युधिष्ठिरं प्रेरितवती परञ्च युद्धायोत्प्रेरितः तया युधिष्ठिरस्तत्कृते नैव त्वरया सहमतः। तत्राचार्याणां सहमतिस्तेनापेक्षिता, इत्युक्तवान् सोऽनेन लोकजीवने कस्मिन्नपि कार्यसमारम्भे महतामाज्ञा परिपालनीया। एतद्व्यवहारसरणिः काव्यलोकमर्यादयैव पात्राणाञ्चरित्रचित्रणेन चावबुध्यते-

सहसा विदधीत न क्रियाम-
विवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वमेव सम्पदः।।[11]

तदानीं लोके जनाः तपोभूतं जीवनं यापयन्ति स्म। किराते अर्जुनस्य साधना तपोबलञ्चेदमेव सङ्केतयति यन्न केवलं अभीप्सया साध्यं प्राप्यतेऽपितु तत्र शक्तेः सामर्थ्यमावश्यकम्, येन शत्रूपरि विजयश्रीः समाप्नुयात्। अनेन लोकजीवने त्यागतपः साधनायाः महत्त्वं सूच्यते। लोकजीवनस्य कश्चन तपोमूलकः पक्षश्च वरमिति ज्ञायते।

लोकजीवने धैर्यस्य महती आवश्यकता वर्तते। न तद्विना लक्ष्यसिद्धिः, तदत्रार्जुनस्य साधनायाः परीक्षा न धैर्याद्विगलिता। किरातेऽर्जुनस्य तपोवृत्तान्तेन कविना बोध्यते यत् न तस्याप्सरसां शृङ्गारिकचेष्टाः किमपि कर्तुं सक्षमाः. न वा गन्धर्वाः तस्य धैर्यं तपश्च विरमयन्ति। अर्जुनस्तत्र निर्विकारेण साधनायोगविद्यामर्जयति। अनेन परिचीयते लोकजीवनस्य कश्चनापूर्वसाहसो येन श्रमसाध्यं सर्व सम्भवति श्रमसाध्यता च समाजस्य सिध्यति। तत्रानेकावबोधनैर्मुनिवेशधारी इन्द्रोऽर्जुनं बोधयामास। अर्जुनस्तमवबोधयति नाहं भोक्तुं तपे न वा मदीया कापि कामना अहन्तु स्वाभिमानाय शत्रुनाशायच तपो विधेमि। अनेन समाजस्य कृते वीरत्वं वीरसाहसपूर्णञ्च लोकजीवनमासीदित्यस्य स्पष्टतया सङ्केतो मिलति। लोकजीवने वीरसाहसादिभावाः विस्तारयन्तु, इत्यपि सन्दिशति कविरत्र।

अत्र प्रसङ्गे महाकविना युधिष्ठिर-भीम-अर्जुन-द्रौपद्याश्च समुत्कृष्टो-लोकोपादेयानां गुणानां समवायो गुम्फितः। तत्र साधनासहिष्णुताशौर्यादिगुणाः

लोकजीवनस्योत्कृष्टतामामनन्ति।

महाकविरयं पुरुषार्थकविः। अमुना पुरुषार्थस्य अवधारणायाः काव्यमयीमभिव्यक्तिं प्रदाय श्लाघ्योऽयं काव्योपक्रमो विहितः। अत्र कवेरेकनिष्ठा, ऐहलौकिकास्था सर्वत्र काव्ये प्रतिफलति। अनेन धर्मकामयोः समन्वयं विदधतोच्यते–

असक्तमाराधयतो यथायथं
विभज्यभक्त्या समपक्षपातया।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान्
न बाधतेऽस्य त्रिगुणाः परस्परम्।।[12]

अनेन स्वमहाकाव्ये लोकजीवनस्य प्रवृत्तिमूलकं लक्ष्यं गौरवस्य परिपूर्णताञ्च प्रापयन् कविः पुरुषार्थविशेषेण युज्यते। लक्ष्यसिद्धयेऽन-वरतसाधनायाः सन्देशः भारविना अर्थगौरवदिशा सम्प्रेषितः। समाजं पतनोन्मुखप्रवृत्तिभिर्बहिष्कृत्य जीवनविषये उच्चतरमानवमूल्यदिशा सततं प्रवर्त्तमानोऽवलोक्यते।

राजनैतिकदृष्ट्यापि लोकजीवनस्य सौहार्दाय महर्षिव्यासो युधिष्ठिरमवबोधयितुं वर्णयति, यत् बन्धुबान्धवानां मध्ये साम्यव्यवहारोचिता भवति सर्वदा। ऐश्वर्यशालिनां शरीरधारिणां व्यवहारः समादृतो भवति लोके तदाह कवेः–

चिचीषितां जन्मवतामलघ्वीं
यशोऽवतंसामुभयत्र भूतिम्।
अभ्यर्हिता वन्धुषु तुल्यरूपा
वृत्तिर्विशेषेण तपोधनानाम्।।[13]

प्रसङ्गेऽस्मिन् निरूपयति कविर्यत् विजयश्रीः प्रकर्षाधीना। साहसे श्रीर्वसतीति–उक्तिधिया लोके बलिन एव जयमवाप्नुवन्ति न दुर्बलाः। अतः शौर्यातिसाधनसैन्यैर्ज्यायान् उपायः करणीय इति प्रेरयति कविरुदाहरति चात्र परशुरामचरितम्–

**लभ्या धरित्री तव विक्रमेण ज्यायांश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः, प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः॥**[14]

अथ च-

**त्रिः सप्तकृत्वो जगतीपतीनां हन्ता गुरुर्यस्य स जामदग्न्यः।
वीर्यावधूतः स्म तदा विवेद प्रकर्षमाधारवशं गुणानाम्॥**[15]

भारवेर्महाकाव्ये नगरग्रामपर्वतादिवर्णनेष्वपि लोकजीवनोपयोगिनः काव्यानुभवाः समुपलभ्यन्ते। चतुर्थसर्गे ग्राम्यगोपानां स्वभावनिरूपणे गोधनं प्रति निष्ठाभक्तेश्चाप्रतिमं वर्णनमुपलभ्यते। तथा हि-

**गतान्पशूनां सहजन्मबन्धुतां गृहाश्रयं प्रेम वनेषु बिभ्रतः।
ददर्श गोपानुपधेनुपाण्डवः कृतानुकारानिव गोभिरार्जवे॥**[16]

अत्र ग्राम्यपशून् प्रति जनानां भ्रातृत्वस्नेहः, अरण्येष्वपि गृहसदृशान्दानुभवः सुस्पष्टं विराजते। तत्रैव ग्राम्यकृषकाणां मुन्याश्रमाणामपि स्वाभाविकं लोकोपयोगिवर्णनमुपलभ्यते।

शिशुपालवधकालिकं लोकजीवनम्-

इह लोकेऽधर्मिणां नाशाय सज्जनानाञ्च परिपालनाय ईश्वरोऽवतरति। मानुषतया वसुदेवसद्मनि श्रीकृष्णस्यावतारो लोकशान्तयेराष्ट्रद्रोहिणः शिशुपालस्य वधाय च जातः। एष सन्देशः इन्द्रेण देवर्षिनारदमाध्यमेन श्रीकृष्णं प्रति निवेद्यते। अनेन कर्वेलोकजीवनरक्षणायसौख्यशान्तये च कवेर्भावो निस्सरति-

**लघूकरिष्यन्नतिभारभङ्गुराममुं
किल त्वं त्रिदिवादवातरः।**

इह प्रजाक्षेमाय परस्परं देवर्षिनारदयोः सम्वादत्वेन कवेर्लोक-

जीवनविषयिणी राष्ट्रहितसाधिका दृष्टिः सफलीभवति। देवर्षिनारदस्ये-हलोकागमने लोककल्याणं मन्वमानः कृष्णस्तं प्रति ब्रवीति- **कृतः प्रजाक्षेमकृता प्रजासृजा सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना।**[17]

माघप्रवर्तिते महाकाव्ये नगरपर्वतग्रामादिवर्णनप्रसङ्गेषु कवीनांलेखनी लोकजीवनस्य समृद्धिपूर्णामभिव्यक्तिं प्रतिपादयति। अत्र द्वारकापुरीतिवर्णनप्रसङ्गे तस्या नगर्याः समृद्धतमा आकृतिः परिपुष्टा भवति। तत्र राज्ञां निवासभूमिः, आपणानां सज्जास्थितिः, तत्रत्यप्रासादानां सौधलेपनादिः, पक्षिणां कलरवश्च इत्येतत्सर्व कविना बाह्याभ्यन्तरत्वेन केनापि वर्णननैपुण्येन वर्णितम्। तत्रत्यभवनमान्तरिकसज्जया बैदूर्यमरकतमणिरिव चन्द्रस्य किरणानि स्वतः प्रतिबिम्बितानि अभूवन्। अनेन तात्कालिकजनानां लोकजीवनस्य काचित् समृद्धतमा छटाऽऽसीदिति सिध्यति-

मध्येसमुद्रं ककुभः पिशङ्गीर्या कुर्वन्ती काञ्चनवप्रभासा।
तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वालेव भित्वा जलमुल्लासम्॥

वणिक्पथे पूगकृतानि यत्र भ्रमागतैरम्बुभिरम्बुराशिः।
लोलैरलोलद्युतिभाञ्जि मुष्णन् रत्नानि रत्नाकरतामवाप॥[18]

महाभारतस्य सभापर्वसमाश्रिते काव्यकथावृत्ते माघकालिके लोकजीवने विनोदप्रियतायाः प्रवृत्तिर्दरीदृश्यते। तत्रैकस्मिन् प्रसङ्गे रैवतकवर्णने हस्तिनो भयेन खरो भृशमुत्पपात। अनेन लोकजीवने हासपरिहासप्रवृत्तेः सूचना प्राप्यते-

त्रस्तः समस्तजनहासकरः करेणोस्तावत्खरः प्रखरमुल्लयाञ्चकार।
यावच्चलासनविलोलनितम्बबिम्बविस्रस्तवस्त्रमवरोधवधूः पपात॥[19]

तदानीं लोकसमाजे सैन्यादिसमूहे प्रयुक्तानां हस्तीनामश्वाना-मुष्ट्रादिनाञ्च महती साजसज्जायाः प्रथाऽऽसीदिति ज्ञायते। रैवतकवर्णन प्रसङ्गेकविना सैन्यप्रयुक्तानां वृषभादीनामपि स्वाभाविकं जीवनं लोक-भारवहत्वञ्चोपस्थापितम्। तदानीं मार्गेषु शिलाप्रस्तराणामाच्छादनं क्रियते जनैरित्यपि ज्ञायते-

उद्यत्कृशानुशकलेषु खुराधिघातादू भूमीसमायत शिलाफलकाचितेषु।[20]

तत्र ग्राम्यकृषकाणां सहधर्मिणीनां स्वाभाविकं जीवनमुपस्थापयता कविना निगद्यते, यत् ताभिः परिरक्षिते क्षेत्रे शुकसमूहः कथं वार्यते अनेन कृषकाणां धान्यादिकार्ये संलग्नानां स्त्रीणां स्वाभाविकी दिनचर्या ज्ञायते,

कृष्यादिषु तत्समाजो निर्भर आसीदित्यादि सिध्यति।

स व्रीहिणां यावदपासितुं गताः
शुकान्मृगैस्तावदुपद्रुतश्रियाम्।
कैदारिकाणामभितः समाकुलाः
सहासमालोकयतिस्म गोपिकाः।।[21]

लोकजीवने वात्सल्यश्चातीवविस्तारितः कविना तदत्र पितृपुत्रयोः पारस्परिकं प्रेम, अस्पष्टभाषया पुत्रव्यवहारादिकं सर्वमुपलभ्यते तत्र-

व्रजतः क्व तात व्रजसीति परिचयगतार्थमस्फुटम्।
धैर्यमभिनदुदितं शिशुना जननीनिर्भर्त्सनविवृद्धमन्युना।।[22]

भारतीयजीवनस्य मनोहारिवर्णनमकारि कविना। तदत्र कृष्णसैन्ये प्रयुक्ताश्वनियन्त्रणेन रैवतकप्रसङ्गे तत्रत्यशिशूनां मार्गे प्रक्रीडितान् मातरस्त्वरया ततशिशून् अपवारयन्ति। तथा हि-

अवेक्षितानायतवल्गमग्रे तुरङ्गिभिर्यत्न निरुद्धवाहैः।
प्रकीडितान् रेणुभिरेत्य तूर्णं निन्युर्जनन्यः पृथुकान् पथिभ्यः।।[23]

अनेन तात्कालिके समाजे जननीनां जनन्यान् प्रति मातृवात्सल्यं ध्यानञ्चासादिति प्रमाणयति। अत्रैव आज्ञाकारिणां दलं द्वारपालानां जागरूकतावणिक्जनानाञ्च कापि लोकजागरुकता सम्यगोपवर्णिता। अत्रैव भगवतः श्रीकृष्णस्य प्राभातिकवर्णनप्रसङ्गे किरातस्त्रीणां स्वाभाविकी जीवनशैलीं कविनोपस्थापिता-किरातस्त्रीणां पर्वतशिलासु वास्तव्यमासीत्।

शैलाधिरोहाभ्यसनाधिकोद्धुरैः पयोधरैरामलकीवनाश्रिताः।
तं पर्वतीय प्रमदाश्चचायिरे विकासविस्फारितविभ्रमेक्षणाः।।[24]

तदानीं सामाजिकसम्बन्धान् परिष्कारयन् कविरत्र वर्णयति यत् कृष्णः पितृष्वसुः (कुन्त्याः) पुत्रं युधिष्ठिरं प्रणमति। अनेन लोकसम्बन्धान् प्रति समुत्कृष्टा आस्थाऽभिव्यज्यते। युधिष्ठिरेणापि भगवत् कृष्णस्यालिङ्गनं स्वीकृतम्। यथा हि--

वपुषापुराणपुरुषः पुरःक्षितौ
परिपुञ्ज्यमानपृथुहारयष्टिना।
भुवनैर्नतोऽपि विहितात्मगौरवः
प्रणनाम नाम तनयं पितृष्वसुः॥[25]

शिशुपाले त्रयोदशसर्गे तात्कालिकस्य लोकजीवनस्य महोत्सव-सदृशमौत्सुक्यं वर्णयन् कविः ब्रवीति यत् भगवतः कृस्णस्य हस्तिनापुरे प्रविष्टे सति तत्रत्यानां जनानां तत्संदर्शनाय महत्कौतूहलं विवर्धते। हस्तिनापुरवास्तव्यानां युवतीनां समूहः क्रियमाणकार्याणि मध्ये विरम्य पूर्वत एव गवाक्षेषु सन्नद्धः। काचित् रमणी रभसेन रशनां हारपदं विधाय काचिच्च क्रर्णपूरं मूर्धजं कृत्वा कृष्णस्य दर्शनाय समापतत्। तथा हि-

रभसेन हारपददत्तकाञ्चयः
प्रतिमूर्धजं निहितकर्णपूरकाः।
परिवर्तिताम्बरयुगाः समापतन्
वलयीकृतश्रवणपूरकाः स्त्रियः॥[26]

अनेन हस्तिनापुरनिवासिनीनां युवतीनां भगवतः कृष्णस्य दर्शनाय कियत्कौतूहलं कियच्चौत्सुक्यमासीदिति स्पष्टं भवति। अद्यापि एषा प्रवृत्तिरेतत्समाजे प्रचुरतयाऽवलोक्यते। रमणीनामपूर्वारमणीयता कृष्णानुरागश्च स्पष्टं प्रतिभाति। भगवतः कृष्णस्य आगमने हस्तिनापुरे महोत्सवपूर्ण वातावरणमासीदित्यपि सूचयति। तदानीं नगरशोभा निजनिकेतनेषु आरूढवतीनां युवतीनां पवनेन कम्पितैराञ्चलवस्त्रैः पताकामयी जाता। अनेनापि लोकजीवने जनताया महाननुरागो बुध्यते। यथा हि-

अधिरूढया निजनिकेतमुच्चकैः पवनावधूतवसनान्तयैकया।
विहितोपशोभमुपयाति माधवे व्यरोचयत पताकयेव तत्॥[27]

तदानीं न केवलं सेनानायकोऽपितु सैनिका अपि निपुणा आसन् इति रैवतकपर्वते विहाराय संन्यप्रस्थाने सति, तत्सैन्यसमूहं वर्णयता कविनोच्यते-यत् तत्र सर्वेऽपि सैनिकाः विद्यमानां तरुच्छायां विहायागामिनीं छायामाश्रयन्ति। अनेन सैन्यजनतायाः सैन्यनैपुण्यं ज्ञायते। तथा हि-

छायामपास्य महतीमपि वर्तमानामागामिनीं जगृहिरे जनतास्तरूणाम्।।[28]

अस्मिन् प्रसङ्गे तत्रत्यैः परिजनैः वाहनात् अवतार्यमाणानां सैन्यस्त्रीणामवगुण्ठनयुतानां नारीणां, क्षणमात्रं दृष्टानां शोभायमान मुखीनां राज्ञीनां दर्शनमकारि। अनेन तत्काले समाजे पर्दायाः प्राधान्यं बाहुल्येन संसूच्यते। इदानीमेषा प्रथा अल्पीयसी एव ग्रामेष्वेव दृश्यते। नगरेषु चैषा विलुप्यते।

यानाज्जनः परिजनैरवतार्यमाणा
राज्ञीर्नरापनयनाकुलसौविदल्लः।
स्रस्तावगुण्ठनपटाः क्षणलक्ष्यमाण-
वक्त्रश्रियः सभयकौतुकमीक्षितेस्म।।[29]

माघकालिके लोकजीवने तत्रत्यानां समुद्रद्वीपानां व्यवसायि-वर्गाणामभिनन्दनं कुर्वन् श्रीकृष्णस्तंप्राशंसत्। अनेन वर्णनेन तत्समाजे वस्तूनामायातनिर्यातव्यवस्थापि ज्ञायते। तत्रस्था व्यवसायिनः नानादिश्यान् पदार्थान् समानीय बहुमूल्येषु विक्रीय महल्लाभमर्जयन्ति स्म। एतेन तत्काले व्यवसायिनामर्थशास्त्रानुरूपा जीवनप्रणालीत्यपि अवगम्यते।

महाकविमाघप्रणीतासु सूक्तिष्वपि जीवनस्य मार्मिककाव्यानुभवाः, प्रेरणास्पदाः सन्देशाश्चावलोक्यन्ते। जनानां राजनैतिकजीवनेऽपि बुद्धिमत्तायाः महती आवश्यकता तेन द्वितीये सर्गे प्रमाणिता "निपुणता एव महारम्भङ्कुर्वन्ति नाऽल्पज्ञाः", "प्रमाद्यतो नश्यन्त्यर्थाः", कथापि खलु पापानाममलमश्रेयसे यतः (2.40) पूर्णश्चन्द्रोदयाकाङ्क्षी दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः (2.31) इत्यादि काव्यात्मकाः लोकजीवनसाधकाः भावास्समायान्ति।

माघकालिकी कृषिप्रक्रिया तथैवासीत् यथा अद्यापि ग्रामेषु समवलोक्यते। तत्र कृषका वर्षपर्यन्तं कृषिकार्ये एव संलग्नाः आसन्, प्रथमं भूमिकर्षणं तदनन्तरं वीजादिवपनं सिञ्चनं कर्तनञ्च अकुर्वन्। अनन्तरञ्च धान्यादिसंग्रहो विधीयते कृषकैः। "भग्नोन्नतानन्तरपूरितान्तरा बभुर्भुवः कृष्टसमीकृता इव"।[30]

तदानीं क्षेत्रेषु ग्रामनार्यः सुमधुरगानमपि कुर्वन्ति स्म। गाने लोलुपाः मृगाः शस्यभक्षणं स्वयमेव पर्यत्यजन्।

''गीतानि गोप्याः कलमं मृगव्रजो न नूनमत्तीति हरिर्व्यलोकयत्''[31]। एभिर्वर्णनैः कवेः लोकजनजीवनप्रक्रियायाः महत्संरक्षणं परिचीयते, अतिथीनां सत्कारप्रक्रिया, शिष्टाचारवैशिष्ट्यञ्च तदानीं लोकसमाजे बाहुल्येनावलोक्यते स्म। अतिथीनाङ्कृते तत्रत्या ग्रामवासिनः लवङ्ग-माल्यपूंगीफलादिना स्वागतं कुर्वन्ति स्म-

लवङ्गमालाकलितातंसास्ते नारिकेलान्तरपः पिबन्तः।
आस्वादितार्द्रवुमुकाः समुद्रादभ्यागतस्यप्रतिपत्तिमीयुः॥[32]

निष्कर्षः समीक्षणञ्च-

अनेन वर्णनेन निष्कर्षतयेदमेव कथनीयं वर्तते यत् यादृशी लोकजीवनस्य अवधारणा श्रुतिस्मृत्योः प्राप्यते न तादृशी काव्येषु, किरातशिशुपालयोः महाकाव्ययोः महाकाव्यलक्षणान्वितिधिया विभिन्नेषु सर्गेषु वर्णितकथानकेन कविकल्पितविविधवर्णनैश्च यादृशमालङ्कारिकं काव्याभिव्यक्तिमयं जीवनमुपलभ्यते तत्तु साङ्केतिकमेव, येन कवेस्तात्कालिकी दृष्टिः निक्षिपति। तत्तद्वर्णनेषु यादृशं जीवनं मया प्राप्तं तदत्र स्वमतेन प्रतिपादितम्। अत्रेदं ध्यातव्यं यत् तत्र प्रामुख्येन लोकव्यवहारधिया लोकजीवनमूलका विविधाः आयामाः समुपलभ्यन्ते। तेषु आयमेषु अभिव्यज्यमानं यादृशं लोकजीवनं तज्जीवनं चतुर्भेदविभक्तं मया, प्राकृतिक-जीवनम्, आरण्यकजीवनं, आध्यात्मिकजीवनं, व्यवहारिकञ्च जीवनम्। इत्यादिषु जीवनेषु क्रमशः नदी-पर्वत-सूर्योदयादीनां, वन-आश्रमादीनां, विचार-मनोभाषादीनां च शिष्टाचारसभ्यतासम्वादादीनाञ्च पक्षाणां लोक-जीवनपरका ये प्रसङ्गा आसन् ते मयोपस्थापिताः यथामत्या। उभयोः महाकाव्ययोः विवेच्यधिया महत्साम्यं वर्तते। तत्र संवादसाम्यं, चित्रणसाम्यं, कथासाम्यञ्च बृहत्तयोपलभ्यते। परञ्चात्र उभयोस्साम्यमपि असामान्यं वर्तते, भारविः भारविरेव, माघः माघ एव[33], भारवेरादर्शगौरवं चेतना च माघे नास्ति। माघे विद्यमानाः लालित्यलयगेयताकोमलसंवेदनाः वात्सल्यञ्च

भारवौ नास्ति। भारविः लोकं प्रति जागरूकचेतनया संस्कृतमहाकाव्येषु अप्रतिमः। माघः भारतीयजनानां प्रति स्वकीयम् अकृत्रिमानुरागं प्रति अप्रतिमः।

---

1. साहित्यसन्दर्भः
2. पञ्चतन्त्रम्
3. किरातार्जुनीये महाकाव्ये सर्गः-1, श्लोकः 38
4. साहित्यदर्पणे
5. शिशुपालवधमहाकाव्ये सर्गः-11, श्लोकः 1
6. किरातार्जुनीये- 4.6
7. तत्रैव- 4.19
8. तत्रैव- 4.21
9. तत्रैव- 3.6
10. तत्रैव- 3.7
11. तत्रैव- 1.11
12. तत्रैव- 3.11
13. तत्रैव- 3.11
14. शिशुपालवधे- 3.17
15. तत्रैव- 3.18
16. तत्रैव- 4.13
17. शिशुपालवधे- 1.28
18. तत्रैव- 3.38
19. तत्रैव- 5.7
20. तत्रैव- 3.9
21. तत्रैव- 12.42
22. तत्रैव- 15.87
23. तत्रैव- 3.30
24. तत्रैव- 12.51
25. तत्रैव- 13.7
26. तत्रैव- 13.31
27. तत्रैव- 13.36
28. तत्रैव- 5.14

29. तत्रैव- 5.17
30. तत्रैव- 12.21
31. शिशुपालवधे- 12.43
32. तत्रैव- 3.81
33. अभिनवसंस्कृतसाहित्येतिहासः

नैषधीयचरिते भारतीयसंस्कृतेर्विशिष्टा प्रस्तुतिः

–प्रो. रमेशचन्द्र चतुर्वेदी

श्रीहर्षप्रणीते नैषधीयचरितमहाकाव्ये भारतीयसंस्कृतेर्विशिष्टा प्रस्तुतिः परिलक्ष्यते ततो हि प्रबन्धोऽयं भारविमाघादिग्रथितप्रबन्धानतिशेते। सर्वत्रैव कविकृतिषु विशेषतः प्रबन्धकाव्येषु नायकादिचरित्रचित्रणेन सह विविधानां ज्ञानशिल्पविद्याकलाप्रभृतीनां संस्कृतिस्वरूपाणां तत्त्वानां चर्चा विधेयेति भरत–भामहादीनां निर्देशः। यथाहि तत्र नाट्यशास्त्रे भरतमुनिना प्रकाशितम्–

न तच्छुतं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते।।[1]

एवञ्च भरतमुनिमतमनुसरता भामहेन काव्यालङ्कारे लिखितम्–

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः।।[2]

एवमेवध्वन्यालोककारेणानन्दवर्धनाचार्येण प्रकाशितम् –

न हि कवेरितिवृत्तनिर्वहणेनैवात्मपदलाभः।[3]

एतेन प्रतिपद्यते यत्खलु संस्कृतिचित्रणेन सर्वत्र कविकृतिषु भाव्यमेव। तत्प्रस्तुतौ कविप्रतिभाप्रकर्षात् काचिद्विशेषता सम्पद्यते यया हि प्रबन्धविशेषो विशिष्टसमादरभाग् विजायते।

काव्याङ्गतया भामहप्रोक्तानि ज्ञानशिल्पादीनि तत्त्वानि संस्कृति-स्वरूपाणि सन्तीति सुधीसम्मतं तथ्यम्। सुधीभिर्हि संस्कृतिशब्दाभिधेयत्वं विवेचयद्भिः केषाञ्चनलोकव्यवहारविशेषाणां निर्देशो विधीयते येषां चिरेण प्रवृत्तिः शिष्टजनादृतिश्च परिलक्ष्येते। संस्कृतिशब्दस्य व्युत्पत्तिं विचारयद्भिः

प्रोक्तमस्ति यत्खलु सम्पूर्वकात् डुकृञ् (कृ) धातोः क्तिन् प्रत्यये कृते भूषणात्मकताप्रतिपादनाय "सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे"[4] इति पाणिनीय सूत्रेण सुडागमे जाते सति संस्कृतिशब्दो निष्पद्यते। एवं समाजविशेषस्य वर्गविशेषस्य वा भूषणात्मिका कृतिः (क्रिया) संस्कृतिशब्दवाच्या।

नैषधे पुरुषार्थचतुष्टयचिन्तनात्मिका संस्कृतिचर्चा

प्राचीनैर्भारतीयमनीषिभिर्मानवजीवनसाध्यानां तत्त्वानां पुरुषार्थ इति संज्ञा विहिता तथा च धर्मार्थकाममोक्षा इति नाम्ना पुरुषार्थचतुष्टयी प्रतिपादिता। सेयं पुरुषार्थचतुष्टयी चतुर्वर्ग इति संज्ञयापि निर्दिश्यते। लोके सम्प्रति येषां व्यवहाराणां संस्कृतिशब्देन निर्देशो विधीयते तेषां समेषामपि पुरुषार्थचतुष्टये समावेशो भवितुमर्हति। धर्मार्थकाममोक्षाख्यानां पदार्थानां पुरुषार्थचतुष्टयत्वेन निर्धारणमपि भारतीयसंस्कृतेः प्राचीनभारतीयचिन्तनधारायाश्च किमपि वैशिष्ट्यं द्योतयति। नैषधचरितमहाकाव्यस्य रचयिता श्रीहर्षो भारतीयसुधीसमाजे प्रसृतं परम्पराप्राप्तञ्च पुरुषार्थचतुष्टयचिन्तनात्मकव्यवहारं सम्यक्तया प्रास्तौत्। ग्रन्थस्यास्य सप्तदशे सर्गे देवेन्द्रस्य कलिं प्रति प्रोक्ते कथने पुरुषार्थचतुष्टयचर्चा विलोक्यताम्।

फलसीमां चतुर्वर्गं यच्छतांशोऽपि यच्छति।
नलस्यास्मदुपघ्ना सा भक्तिर्भूताऽवकेशिनी।।[5]

सुन्दरीसमुपभोगादिरूपस्य कामव्यवहारस्य पुरुषार्थरूपेणचर्चा तत्राष्टादशसर्गस्यारम्भ एभिश्शब्दैर्विहिता –

सोऽयमित्थमथ भीमनन्दिनीं दारसारमधिगम्य नैषधः।
तां तृतीयपुरुषार्थवारिधेः पारलम्भनतरीमरीरमत्।।[6]

तत्र ग्रन्थादौ नलस्य विद्याभ्यासं वर्णयता श्रीहर्षेण कामाख्यपुरुषार्थस्य तु स्पष्टशब्दैस्तथाचेतरेषां त्रयाणां प्रकारान्तरेण चर्चा निम्नलिखिते पद्ये कृता–

दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसारावरोधिनीम्।
बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्रावतारत्वबोधिकाम्।।[7]

अत्र पद्ये तृतीयपुरुषार्थस्य नामनिर्देशपूर्वकं चर्चा प्रकाशते, सर्वासां दिशामीशत्वेन विपुलसम्पत्तिरूपस्यार्थसंज्ञकद्वितीयपुरुषार्थस्य चर्चा कृता। शास्त्राभ्यासरूपेण धर्माख्यस्य प्रथमपुरुषार्थस्य चर्चा विहिता तथा च पद्यान्ते त्रिनेत्रशिवरूपप्राप्तिवर्णनेन शिवरूप्यात्मकस्य पुरुषार्थस्य मोक्षस्य चर्चा कृताऽस्ति। इत्त्थमेव विभिन्नप्रकारैः चतुर्णामपि पुरुषार्थानां भेदोपभेदविशेषा नैषधे चर्चिताः। तेषां संक्षेपतो विचारोऽत्र प्रस्तूयते।

नैषधे धर्माङ्गानां चर्चाः –

भारतीयसंस्कृतौ धर्माख्यपुरुषार्थस्य विशिष्टं स्थानमिति तु प्राचीनवाङ्मये धर्मसंज्ञकस्य विविधव्यवहारकदम्बस्य विस्तृतविवेचनेन विज्ञायते। पुरुषार्थचतुष्टये धर्मोहि त्रयाणामितरेषां पुरुषार्थानां समाश्रयोऽस्तीति महाभारतादिषु प्रतिपादितमस्ति। पुराणेषु धर्मस्य वृषभरूपेण वर्णनमपि बहुत्र विहितमस्य धर्मवृषभस्य कृतयुगे तु चत्वारि चरणानि समवर्तन्त परन्तु त्रेताद्वापरकलियुगेषु क्रमश एकस्य चरणस्य हानिर्जायते तथा चाधर्मसंज्ञकव्यवहाराणां प्रवृद्धिर्भवतीति पुराणेषु बहुत्र चर्चितम्। पुराणेषु बहुत्र धर्मस्य वृषभत्ववर्णनप्रसङ्गे सत्यास्तेयशमदमानां धर्मवृषमपादत्वेन निर्देशो विहितस्तथा चान्यत्र तपोदानयज्ञज्ञानानि धर्मवृषभचरणानीति प्रोक्तानि। एवं हि भारतीयसंस्कृतौ तन्निरूपके प्राचीनभारतीयसाहित्ये च प्रथितं शमादीनां धर्मवृषमचरणत्वं समाश्रित्य नैषधीयचरितमहाकाव्यस्यारम्भे कथानायकस्य महाराजनलस्य धर्मप्रतिष्ठापकत्वं धार्मिकव्यवहार-सुसम्पादकत्वञ्च वर्णयितुं विलिखितम् -

पदैश्चतुर्भिः सुकृते स्थिरीकृते
कृतेऽमुना के न तपः प्रपेदिरे।
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन्
दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम्।

कविनात्र पद्ये भारतीयसंस्कृतौ तपसो महत्त्वम्, एकचरणकनिष्ठयैव भुवः स्वल्पस्पर्शं विदधतस्तपस्विनो व्यवहारविशेषवर्णनमाध्यमेन तपः प्रकाराणां तपस्विव्यवहाराणां वा बहुविधत्वं प्रतिपादितम्। अस्मिन् पद्ये

कविनाऽनुप्रासयोजना विदधता धर्मशब्दस्थाने 'सुकृत' शब्दस्य प्रयोगः कृतस्तेन सत्ययुगस्यापि निर्देशः प्राप्यते। श्लिष्टशब्दस्यास्य सुकृतस्य प्रयोगेण भारतीयसंस्कृतौ प्रथितायाः युगचतुष्टयव्यवस्थाया अपि परिचयो विजायते। धर्मस्य पादचतुष्टयसुस्थिरीकरणमिति वर्णनेन भारतीयसंस्कृतौ शमादिधर्माङ्गनां स्थानं परिचीयते। संक्षिप्तेऽष्टचत्वारिंशद्वर्णमितेनानेन पद्येन धर्मस्य महत्त्वन्तथा च तस्य धर्मस्य शमादिव्यवहाराश्रितत्त्वं तत्र तपसः प्राधान्यं कालक्रमेण जायमानां धर्महानिं राज्ञो धर्महानिनियामकत्वमित्यादिकं विभिन्नविषयकदम्बकं चर्चितमस्ति। सैषा प्रस्तुतिविशेषता सर्वत्रैव भारतीयसंस्कृतिचित्रणप्रधानेऽस्मिन् महाकाव्ये विलोक्यते।

नैषधे शास्त्राभ्यासात्मकस्य धर्माङ्गस्य चर्चा :

प्राचीनैर्भारतीयमनीषिभिः ज्ञानप्रदानात्मकस्य शास्त्राभ्यासस्य धर्माङ्गत्वं प्रतिपादितन्तथा च वेदपुराणादीनां शास्त्रत्वं विद्यात्वं वा चर्चितम्। तपोदानयज्ञज्ञानसंज्ञकानि चत्वारि तत्त्वानि धर्मस्य चरणचतुष्टयरूपेण स्वीक्रियन्ते सुधीभिः। ज्ञानार्जनं शास्त्राभ्यासेन भवितुमर्हतीति विचारेण कविवरश्श्रीहर्षो नैषधीयचरितमहाकाव्यस्य प्रारम्भे नलस्य शास्त्राभ्यास-मेभिश्शब्दैर्वर्णितवान् -

अधीति बोधाचरणप्रचारणै-
र्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः।
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतः स्वयं
न वेद्‌मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम्।

चिरेण भारतीयसमाजे वेदादीनां विद्यात्वं सुप्रथितमत एव मनुस्मृतौ विलिखितम् -

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणञ्चेति विद्या ह्येताश्चतुर्दशः।

महर्षियाज्ञवल्क्येन तु चतुर्दशविद्यानां धर्माङ्गत्वमपि स्पष्टशब्दैः प्रोक्तम् -

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥[8]

मनुयाज्ञवल्क्यादिमतानुसारेण शिक्षाकल्पनिरुक्त-छन्दोव्याकरण-ज्योतिषसंज्ञकैर्वेदाङ्गैस्तथा च पुराणन्यायशास्त्रमीमांसाशास्त्रधर्मशास्त्रैः सहिता ऋग्यजुःसामाथर्वसंज्ञकाश्चत्वारो वेदाः विद्यारूपेण धर्मपरिचायकरूपेण च मन्तव्यास्तथा चैतेषां सम्यक्परिचयः कार्यः। मन्वादिमतं स्पष्टीकुर्वता भारतीयसंस्कृतौ शास्त्राभ्यासस्य च स्थानं निरूपयता श्रीहर्षेण नलस्य शास्त्राभ्यासवर्णनावसरे "चतुर्दशत्वम्" इत्यस्य श्लिष्टशब्दस्य प्रयोगः कृतोऽस्ति। तेन विद्यारूपेण मतानां वेदादीनां संख्या "चतुर्दश" अस्तीति प्रतिपद्यतेऽपरतश्च चतुर्दशानां विद्यानां सम्यक्परिचयो हि सावधानतया पठनेन, पठितांशस्यार्थबोधेन, ततश्च स्वजीवने वेदादिनिर्दिष्टानां कार्याणां सम्पादनेन समाजे च वैदिकसिद्धान्तानां प्रचारणेन विद्यानां चतस्रो दशाः अवस्थाः विजायन्ते इत्यपि वेदितव्यम्। अत्र पद्ये कविवरेण वेदादीनां विद्यात्वमथ च धर्माङ्गत्वं निरूपयता अधीतिबोधाचरणप्रचारात्मिकाश्चतस्रो दशा अपि निर्दिष्टाः सन्ति। एतेन भारतीयसंस्कृतौ वेदादीनां चतुर्दशानां विषयाणामध्येतव्यता प्रतिष्ठिताऽऽसीदिति व्यज्यते तथा च पाठमात्रेणैव विद्याभ्यासो न पूर्णतामाप्नोत्यपितु अर्थबोधाचरणप्रचारात्मकैस्त्रिभिर्व्यवहारैस्तस्य पूर्णता भवति।

श्रीहर्षेण नैषधे ज्ञानसंज्ञकस्य धर्माङ्गस्य चर्चाऽवसरे चतुर्दशानां विद्यानां निर्देशानन्तरं निर्दिष्टं यत्खलु भारतीयसंस्कृतौ अध्यात्मचिन्तनेन यज्ञादिनिरूपणेन सह जीवनव्यवहारविशिष्टोपयोगिचिन्तनानामपि विद्यात्वेन प्रतिष्ठा वर्तते तेनैव हेतुना आयुर्विज्ञानमित्यादिसंज्ञाविभूषितानां चिन्तनानाम् उपवेदचतुष्टयमिति संज्ञाप्रदानपूर्वकं विद्यारूपेण चर्चा विधीयतेऽत एव विद्यानां संख्या अष्टादश मन्यते। पूर्वस्मिन् पद्ये येषां शास्त्राणां चतुर्दश-विद्यारूपेण चर्चा कृता तैः सह चतुर्णां आयुर्वेदधनुर्वेदगन्धर्ववेदार्थशास्त्राख्यानां जीवनोपयोगिविशिष्टचिन्तनानां योगं विधाय प्राचीनभारतीयमनीषिभिर्विद्यानाम् अष्टादश संख्या मता। एवं विधं भारतीयसंस्कृतिविवेचनपरकचिन्तनस्याध्येत-व्यतायाः प्रतिपादनं विदधता श्रीहर्षेण नैषधीयचरितमहाकाव्ये नलेन कृतस्य

विद्याभ्यासस्य चर्चा निम्नलिखिते पद्ये कृता -

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताऽङ्गगुणेन विस्तरम्।
अगाहताष्टदशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियम्।

भारतीयसंस्कृतौ त्रयीविद्या वेदविद्या प्राधान्यं बिभर्तीति विचारं विविधालङ्कारप्रयोगपूर्वकं कविवरश्रीहर्षः कथानायकस्य नलस्य विद्याभ्यासवर्णनव्याजेन प्रकाशितवान्।

नैषधे इष्टापूर्तसंज्ञकस्य धार्मिकव्यवहारसमूहस्य चर्चा

भारतीयसंस्कृतौ इष्टापूर्तसंज्ञकानां धार्मिकव्यवहारविशेषाणां विशिष्टं महत्त्वं विद्यते। स्मृतिषु पुराणेषु च धर्मस्वरूपविवेचनप्रसङ्गे केषाञ्चन धार्मिकव्यवहाराणामभिधानम् "इष्टापूर्तम्" प्रकाशितम्। यथाहि तत्राग्निपुराणे मार्कण्डेयपुराणे च विलिखितम् -

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव साधनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवञ्च इष्टमित्यभिधीयते॥
वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमतिथिभ्यः पूर्तमित्यभिधीयते॥

(अ.पु. 209/2-3) (भा.पु. 16/123-124)

इष्टापूर्तमिति नाम्ना येषां कार्याणां चर्चा विधीयते तानि कर्माणि भारतीयसंस्कृतिविवेचनपरैः सुधीभिरपि प्रायशो विचार्यन्ते। भारतीय संस्कृतिविवेचनपरेण कथानायकस्य नलस्य चरित्रे भारतीयसंस्कृतिसमुपासनां प्रकाशयता कविवरश्रीहर्षेण धर्मशास्त्रप्रथितस्यास्य पारिभाषिकशब्दस्य प्रयोगो नैषधीयचरिते निम्नलिखितरूपेण कृतः -

इष्टेन पूर्तेन नलस्य वश्याः स्वर्भोगमत्रापि सृजत्यमर्त्याः
महीरूहा दोहदसेकशक्तेराकाशिकं कोरकमुद्गिरन्ति॥[९]

नलसम्प्रेषितस्य दमयन्ती समक्षं नलगुणगानं विदधतो हंसस्यास्यामुक्तौ नलमहाराजस्य धर्मधुरन्धरत्वं स्पष्टं प्रकाशते। नैषधीयचरितस्य विभिन्नेषु

सर्गेषु देवेन्द्रादिकथनरूपेण कविप्रौढोक्तिरूपेण च नलविहितानाम् इष्टापूर्तकर्मणां चर्चा बहुत्र विलोक्यते। कथानायकस्य महाराजनलस्य इष्टापूर्ताख्य धर्मव्यवहारप्रवणतां समाश्रित्य कविवरश्रीहर्षेण तस्य धर्मसाधुत्वं व्याकरणशास्त्रीयसिद्धान्तविशेषमुपाश्रित्य निम्नलिखिते पद्ये प्रकाशितम् -

क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता
व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाऽभिधेया।
या स्वौजसां साधयितुं विलासै-
स्तावत्क्षमानामपदं बहुस्यात्।।[10]

लोके गैरित्रकवर्णाम्बरधारिणि जने साधुशब्दो रूढः परन्त्वत्र धर्मसाधनाशीलस्य धर्मसाधोः परिचयार्थं साधुशब्दः प्रयुक्तोऽस्ति।

नैषधे अतिथिसेवारूपस्य धर्मस्य चर्चा

भारतीयसंस्कृतौ अतिथिसेवायाः विशिष्टं स्थानमस्तीति दृशा धर्मव्यवहारविवेचनावसरे इष्टापूर्तमिति संज्ञया धार्मिककार्यकलापान् निर्दिशद्भिर्भारतीयमनीषिभिः अतिथिसेवायाः निर्देशं "इष्टम्" इति संज्ञकेषु व्यवहारेषु कृत्वा पुनः "पूर्तम्" इति संज्ञकेषु व्यवहारेषु अतिथिसेवायाः समावेशः 'अतिथिभ्योऽन्नप्रदानम्' इतिशब्दप्रयोगेण कृतः। उपनिषत्साहित्येऽपि मातृपितृगुरूणां देववत्पूज्यत्वं निर्दिश्य "अतिथिदेवो भव" इति समुपदेशेन भारतीयसंस्कृतौ अतिथिसेवायाः महत्त्वपूर्णं स्थानं सूचितमस्ति। श्रीहर्षेण मातृदेवो भव पितृदेवोभव इत्यस्योपनिषदुपदेशस्य पालनन्तु स्वकीयव्यवहारे कृतमस्तीति प्रतिसर्गं स्वमातृपितृनामस्मरणात्मकपद्यलेखनेन प्रतिपद्यते। उपनिषदुपदेशास्य "अतिथिदेवोभव" इत्यस्य विशदं विवेचनं नैषधचरित्र चित्रणे कविवरश्रीहर्षेण नैकप्रसङ्गेषु कृतमस्ति।

समाजे पूज्यतमैर्महर्षिभिरपि स्वाश्रमे समागतानां नृपादीनाम् अतिथीनां सेवा वार्धक्यवशाच्छरीरशैथिल्ये जातेऽपि विधेयेति भारतीयसंस्कृतिविचारं निर्दिशता कविवरेणश्रीहर्षेण तत्रोपवने समागतस्य नलस्योयरि जातायाः वृक्षसम्पादितपुष्पवर्षायाः वर्णनमेभिश्शब्दैर्व्यधायि -

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे
वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते।
स्थितैः समादाय महर्षिवार्धका-
द्वने तदाथिथ्यमशिक्षि शाखिभिः।[11]

अत्र वर्णनीयं कथावस्तु तु वृक्षेभ्यो नलोपरि जाताया पुष्पफलवर्षणं नलोपवनवृक्षाणां फलपुष्पादिसमृद्धिमत्त्वं विद्यते तथापि भारतीयसंस्कृति-विवेचनपरेण सुकविना पुष्पवृष्टिकारिणां वृक्षाणां शिक्षकरूपेण वृद्धमहर्षयस्तदीयव्यवहारविशेषाश्च सोत्प्रेक्षं समुपन्यस्ताः। नृपाणां गृहस्थानाञ्चातिथिसेवा नित्यकर्मत्वेन भारतीयसंस्कृतौ प्रतिष्ठिता न तु काम्यकर्मत्वेनेति सूचयितुं श्रीहर्षेण देवेन्द्रेण कृताया नारदातिथेः सेवायाश्चर्चेत्थं विहिता-

अर्चनाभिरुचितोच्चतराभिश्चारु तं सदकृतातिथिमिन्द्रः।
यावदर्हकरणं किल साधोः प्रत्यवायधुतये न गुणाय।।[12]

अत्र पद्ये 'प्रत्यवायधुतये' इति पदस्य प्रयोगेणातिथिसाधोः सेवाया नित्यकर्मत्वं सम्यक् सूचितम्। श्रीहर्षेण नैषधीयचरिते प्रकाशितं यत्खलु भारतीयसंस्कृतौ अतिथित्वेन प्राप्तस्य शत्रोरपि मधुपर्कादिनाऽर्हणा समुपदिष्टाऽस्ति। इमं विचारं सूचयितुं श्रीहर्षो नैषधीयचरिते देवेन्द्रसमीपे नारदेन सह समागतस्य पर्वताख्यमुनीन्द्रस्य देवेन्द्रकृतमातिथ्यमेभिश्शब्दैः प्रकाशितवान् -

नामधेयसमतासखमद्रेरद्रि-
भिन्मुनिमथाद्रियत द्राक्।
पर्वतोऽपि लभतां न कथमर्चां
न द्विजः स विवुध प्रभुलभ्भी।।[13]

अतिथिसेवाव्रतेन सम्प्राप्तसम्पदायाः सदुपयोगो भवति स्वपरिवार जनपोषणमात्रे सम्पदायाव्ययस्तु नैव हितावह इति भारतीयसंस्कृतिविचारपरम्परां निर्देष्टुं कविवरेण श्रीहर्षेण देवेन्द्रस्य नारदकृतप्रशंसाप्रसङ्गे विलिखितम् -

श्रीभरानतिथिसात्करवाणि स्वोपभोगपरता न हितेति।
पश्यतो बहिरिवान्तरपीयं दृष्टिसृष्टिरधिका तव कापि॥[14]

अतिथसेवामहत्त्वदर्शनादेव देवेन्द्रस्य सहस्रनेत्रवत्त्वं सार्थकमिति वर्णयता कविना भारतीयसंस्कृतौ प्रवर्तमानस्य वैभवसमुपयोगविधेरतिथि-सेवामहिम्नश्च सम्यक्प्रकारेण चर्चा कृताऽस्ति।

नैषधे भारतीयसंस्कृतिप्रथितायाः परोपकारभावनायाश्चर्चा

श्रीहर्षप्रणीते नैषधीयचरिते परोपकारात्मकस्य पुण्यकर्मणश्चर्चा विस्तरेण विहिता तथा च प्रत्युपकारस्यापि महत्त्वं विशदतया चर्चितमस्ति। प्रत्युपकारमहत्त्वं दर्शयितुं श्रीहर्षेण नैषधीयचरितस्य द्वितीयसर्गे महाराजनलेन विमुक्तस्य प्रत्युपकारभावनाभरितहृदयस्य हंसस्य नलं प्रति प्रोक्तं वचनमेभिश्शब्दैर्वर्णितम् –

पतगेन मया जगत्पतेरुपकृत्यै तत्र किं प्रभूयते।
इति वेद्मि न तु त्यजन्ति मां तदपि प्रत्युपकर्तुमर्तयः।
अचिरादुपकर्तुराचरेदथ वात्मौपयिकीमुपस्थिताम्।
पृथुरित्थमथाणुरस्तु सा न विशेषे विदुषामिह ग्रहः॥[15]

एतेन प्रत्युपकाररूपस्य धर्मस्य विषये श्रीहर्षस्याभिमतं विज्ञायते यत्खलु यथासामर्थ्यं प्रत्युपकारोऽचरेण विधातव्यस्तत्र प्रत्युपकारस्य स्वल्पता पृथुता च नैव विचारणीये। परोपकारभावनामहत्त्वप्रकाशनपरः श्रीहर्षो देवेन्द्रादीनां हितैषिणा महाराजनलेन स्वप्रियादमयन्तीसमीपे कृतं देवेन्द्रादिदूतत्वं सविस्तरं प्रकाशितवान्। अस्मिन् प्रसङ्गे वारं वारं परोपकारस्य महत्त्वं कविना प्रकाशितम्।

परोपकारमहिमप्रकाशने श्रीहर्षस्य कल्पनातिरेकः –

नैषधीयचरितमहाकाव्ये श्रीहर्षेण विभिन्नजनानामुक्तिनिबन्धनमाध्यमेन परोपकारस्य महिमा समुपबृंहितस्तथा स्वजीवनार्पणेनापि परोपकारो विधेय इति चिन्तनं समर्थितम्। तत्र पञ्चमे सर्गे नलं प्रति वरुणेन प्रोक्तमस्ति –

चर्म वर्म किल यस्य न भेद्यं
यस्य वज्रमयमस्थि च तौ चेत्।
स्थाविनाविह न कर्णदधीची
तन्न धर्ममवधीरय धीर॥[15]

सत्ययुगे विद्यमानस्य नलस्य समक्षं द्वापरयुगवर्तिनः कर्णस्य व्यवहारं दर्शयतो वरुणस्योक्तिरेषा श्रीहर्षस्य परोपकारमहिमप्रकाशने व्यग्रताविशेषं कल्पनातिरेकं वा द्योतयति। विषयेऽस्मिन् काव्यतत्त्वविदः प्रमाणम्।

नैषधे विविधशिल्पानां वैभवविशेषाणाञ्च चर्चा –

अर्थसंज्ञकस्य द्वितीयपुरुषार्थस्य स्वरूपं श्रीहर्षविरचिते विपुलाकारे नैषधीयचरिते विस्तरशश्चर्चितमस्ति। महाकाव्येऽस्मिन् काव्यनायकस्य नलस्य विदर्भराजस्य भीमस्य तथा चान्येषां स्वयंवरे समागतानां नृपाणां वैभवविशेषाः विस्तरेण वर्णिताः। कथानायकस्य नलस्यसमृद्धिमत्ता निम्नलिखिते पद्ये चर्चिता –

जगज्जयं तेन च कोशमक्षयं प्रणीतवान् शैशवशेषवान्यम्।

तस्य नलस्य राज्ये दरिद्राणामभाव आसीदिति निर्देष्टुं तस्य याचकजनद्रारिद्र्यनिवारणं श्रीहर्षेणेत्थं वर्णितम् –

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं-
लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्।
मृषां न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः
प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नलः॥[16]

श्रीहर्षेण नैषधीयचरितस्य द्वितीयसर्गे कुण्डिनपुरीशोभावर्णनेन विविधरत्ननिर्मितसुविशालगगनचुम्बिप्रासादानाञ्च वर्णनेन द्वितीयपुरुषार्थस्य विस्तृता विशदरूपेण चर्चा कृता। परन्तु तत्र सर्वत्रैव धर्मसंज्ञकस्य कामसंज्ञकस्य च पुरुषार्थस्य तत्त्वान्यपि सन्निवेशितानि प्राप्यन्ते। यथा हि निम्नलिखिते पद्ये वप्रावलेर्योगपट्टत्वं मणिवेश्मनौ ज्योतिर्विशेषरूपतां कुण्डिनपुर्याश्च योगिनीत्वमुत्प्रेक्ष्य विलिखितम् –

क्षणनीरवया यया निशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया।
मणिवेश्ममयं स्म निर्मलं किमपि ज्योतिरबाह्यमिज्यते।।[17]

अन्यत्र पद्ये प्रासादानां भूमेर्हासरूपतां परिकल्प्य कुण्डिनपुरीशस्य भीमस्य च विलासिनायकत्वमुत्प्रेक्ष्य प्रकाशितम् -

दयितं प्रति यत्र संतता रतिहासा इव रेजिरे भुवः।
स्फटिकोपलविग्रहाः गृहा शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः।[18]

एकत्रपद्ये सक्तुपेषणयन्त्रजनितघर्घरध्वनियुक्तानां हट्टपथानां वर्णनमित्थं कृतम्

प्रतिहट्टपथे घरट्टजात्पथिकाह्वानदसक्तुसौरभैः।
कलहान्न घनान्यदुत्थितादधुनाप्युज्झति घर्घरस्वरः।।[19]

एवमेव स्वयंवरमहोत्सवे समागतानां नृपाणां वरणीयतावर्णनप्रसङ्गे विभिन्नानां वैभवविलासानां वरयात्रिजनानां सामूहिकभोजनवर्णनावसरे विभिन्नपक्वान्नानां चर्चावसरे पाककलाविशेषाणां निरूपणं प्राप्यते परन्तु तत्रापि कामाख्यपुरुषार्थस्यापि तत्त्वानि समावेशितानि।

नैषधे कामस्य तत्सम्बद्धकलाविशेषाणाञ्च चर्चा–

श्रीहर्षेण नैषधीयचरितमहाकाव्ये नलदमयन्तीप्रणयवृत्तान्तस्य प्रतिपाद्यत्वमस्तीति दृशा बहुषु समेषु कामस्य तत्त्वसम्बद्धकलाविशेषाणाञ्च चर्चा विस्तरेण कृताऽस्ति। नलस्य सौन्दर्यवर्णने बहुत्र तस्य कामदेवावतारत्वं तथा च दमयन्तीनखशिखवर्णने लोकोत्तरकामिनीत्वं चर्चितमस्ति। स्वयंवर महवर्णनेऽपि सौन्दर्यविवेचनस्यैव प्राधान्यं परिलक्ष्यते। काव्यस्याष्टादशे सर्गे दमयन्तीनलयोः रतिक्रीडा विस्तरेण विशदरूपेण चर्चिताऽस्ति तेन हर्षस्य कामशास्त्रविषयिणी प्रगल्भता परिचीयते। तस्यैतस्य सर्गस्य प्रथमे पद्ये कामस्य तृतीयपुरुषार्थत्वं निरूपयता श्रीहर्षेण कामिन्यास्तृतीयपुरुषार्थ वारिधितरीत्वमेभिश्शब्दैः प्रकाशितम् -

सोऽयमित्थमथ भीमनन्दिनीं दारसारमधिगम्य नैषधः।
तां तृतीयपुरुषार्थवारिधेः पारलम्भनतरीमरीरमत्।।[20]

श्रीहर्षेण सर्वत्रैव कामाख्यस्य पुरुषार्थस्य विवेचनावसरे प्रतिपद्यं धर्मार्थमोक्षेष्वन्यतमस्य पुरुषार्थस्य सन्निवेश व्यधायि तथैव कामसम्बद्धानां संगीतनृत्यचित्राख्यानां कलाविशेषाणामपि चर्चायां पुरुषार्थान्तरीया चर्चा समविष्टा।

नैषधीयचरितस्य प्रारम्भे नृत्यकलायाश्चर्चा त्रयीविद्याविवेचनेन समन्वितेत्थं व्यधायि

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम्।
अगाहताष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियम्।।[21]

अग्रे संगीतनृत्यवाद्यसमवायं तौर्यत्रिकसंज्ञया नलस्योपवनविहारं वर्णयता प्रकाशितवान्। नलविषयकानुरागवत्या दमयन्त्या लीलगृहभित्तिकायां नलदमयन्त्योश्चित्रस्य निर्माणेन चित्रकला चर्चिता।

---

1. भरतनाट्यशास्त्रम् 1/116
2. भामहकाव्यलङ्कारः -5/14
3. ध्वन्यालोकः -तृतीयाध्याये
4. अष्टाध्यायी -6/1/137
5. नैषधचरितम् -17/142
6. नैषधचरितम् -18/1
7. नैषधचरितम् -1/6
8. याज्ञ. 1/3
9. 1/21
10. 3/23
11. 1/77
12. 5/1
13. 5/10
14. 5/23
15.. 2/13-14
16. 5/129
16. 1/15
17. 2/78
18 2/74
19 2/85
20 181
21 1/5

नैषधीयपाठभेदविमर्शः

डॉ. भागीरथिनन्दः

पुरातनप्रसिद्धसंस्कृतग्रन्थानां भूयसा पाठभेदोऽवलोक्यते। पाठभेदस्य भवितुमर्हन्त्यनेकानि कारणानि, परन्तु विद्यमानेषु तेषु परस्परं भिन्नेषु पाठेषु अन्यतमस्य स्वीकार्यतमतायां नानापरीक्षणशीलं प्रमातृहृदयमेव श्रेष्ठं प्रमाणम्। श्रीहर्षविरचिते नैषधीयचरितमहाकाव्येऽपि टीकाकारैरङ्गीकृतपाठेषु तत्र तत्रानेके पाठभेदा दृश्यन्ते। तेषु कतमो ग्राह्यः स्यादिति जायते विप्रतिपत्तिः। यद्यपि टीकाकाराः स्वस्वपाठानादाय दृढा दृश्यन्ते, तथापि नानापरीक्षणपूर्वकं कोऽप्येकः सकलसहृदयसंवादी पाठोऽङ्गीकार्य इति युज्यते। नैषधीय-चरितस्योपलब्धासु नैकपुरातनटीकासु प्रमुखतः श्रीनारायणविरचितया नैषधीयप्रकाशाख्यव्याख्ययामल्लिनाथ-विद्याधर-जिनराज-चारित्रवर्धन-नरहरिव्याख्यान्तरी- यविशिष्टांशैस्तत्पाठान्तरैष्टिप्पण्यादिभिश्च समुल्लसितं नैषधीयचरितं मुम्बापुरस्थनिर्णयसागरमुद्रणालयात् प्रकाशितं वर्तते। अत्र श्रीनारायणविरचिता नैषधीयप्रकाशटीका, मल्लिनाथस्य जीवातुः, विद्याधरस्य साहित्यविद्याधरी, जिनराजस्य सुखावबोधा, नरहरेश्च दीपिकाख्येति व्याख्या नानापाठभेददृष्ट्या तत्र तत्र समुपास्याः सन्ति। एकेन टीकाकारेणोररीकृतः पाठोऽन्येनाद्रियते। अन्यस्यापि अपरः पाठोऽङ्गीकृतो दृश्यते। अतस्तेषु कानिचन पाठभेदस्थलानि समुपस्थाप्य विविच्यन्ते। तत्रैकं यथा-

दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता
दिशां स कामप्रसरावरोधिनीम्।
बभार शास्त्राणि दश द्वयाधिकां
निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम्॥[1]

पद्येऽस्मिन् 'कामप्रसरावरोधिनीम्' इति नैषधीयप्रकाशकारो नारायणः। 'कामप्रसभावरोधिनीम्' इति पाठस्तु मल्लिनाथस्य। कतरोऽनयोः स्वीकार्य

इति जिज्ञासायां 'प्रसर' इति पदमुचिततरं प्रतीयते प्रसभापेक्षया। तथाहि- कामप्रसरो नाम कामस्य स्वेच्छाचारस्य यः प्रसरः प्राबल्यम्। कामस्य यत् प्राबल्यं तत् दशदशाभिः क्रमसम्भवीति संलक्ष्यक्रमम्। कामप्रसरावरोधिनीम् इत्यत्र कामस्य प्रसरः, तस्य अवरोधिनीम् इति विग्रहः। अत्र प्रसरपदस्य कामेन सह सम्बन्धः। कामप्रसभावरोधिनीम् इत्यत्र तु कामस्य प्रसभावरोधिनीम् इति विग्रहे प्रसभपदस्य बलादित्यर्थकस्य त्रिनेत्रसम्बद्धत्वम्। प्रकृते वर्णितं त्रिनेत्रस्य रुद्रत्वाद् तृतीयनेत्राग्निना प्रसभमरिनाशनं प्रसभपदाभावेऽपि स्वयं सिद्ध्यति। अतः प्रसरपदप्रयोगेण कामस्य स्वेच्छाचारस्यापि प्रबलां गतिं रोद्धुं त्रिनेत्रसामर्थ्यस्य बोध्यत्वात् प्रसरपदं प्रासङ्गिकतरातां धत्त इति प्रतीयते। तस्माद् 'प्रसर'पदस्य प्रयोगो युक्तो मन्तव्यः। एवमपि-

स्फुरद्धनुर्निःस्वनतद्धनाशुगप्रगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे।
निजस्य तेजःशिखिनः परश्शता वितेनुरिङ्गालमिवायशः परे॥[2]

इत्यत्र 'इङ्गालम्' इति नैषधीयप्रकाशकारः, 'अङ्गालम्' इति मल्लिनाथः। 'इङ्गाले' भाषाशब्द इति नैषधीयप्रकाशटीकायाम्। अर्थात् भाषाशब्दपदादन्यतम भारतीयभाषाव्यवहृतपदम् इङ्गाल इति बोध्यं, यत्किल तदितरभाषाविद्भिः स्वभाषाया प्रयोगे व्यवह्रियमाणं न ज्ञायते। अङ्गालं इति इति पदे तु अङ्ग इति पदान्नुमि आरन् प्रत्यये चाङ्गारापरपर्यायताबोध्यत्वात् संस्कृतत्वसिद्धेः सर्वगोचरत्वं सिद्ध्यति। अतः अङ्गालम् इति पदमभिमततरं भाति। किञ्च, रलयोरभेदात् अङ्गालम् अङ्गारम् वेत्युभयं साधु।

अपि च-

अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च।
दधौ पटीयान् समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने॥[3]

पद्येऽस्मिन् 'अभ्यास' इति नैषधीयप्रकाशकारः। अभ्याश इति मल्लिनाथः। अभ्याशपदयोगेन नलसान्निध्यं, तन्नैकट्यं, तत्सामीप्यं वा बोध्यते। किन्तु नलस्य पाण्डित्यं न व्यज्यते। वस्तुतस्तु कवि-बुध इति पदद्वयप्रयोगात् अजस्रं सर्वदाभ्यासं काव्यकवनशास्त्रमननव्यसनमुपेयुषा प्राप्तवतेति अर्थप्रतीतेः अभ्यासपदप्रयोगो न्याय्यः। किञ्च 'अभ्यासो

व्यसनेऽन्तिके' इति विश्वकोषोपदिष्टत्वात् अभ्यासस्य व्यसन-नैकय्य इति अर्थद्वयसङ्गतेः अभ्यासपदं युक्ततरम्।

एवमपि,

अधोविधानात् कमलप्रवालयोः
शिरःसु दानादखिलक्ष्माभुजाम्।
पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा
पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया।।[4]

पद्येऽस्मिन् 'दानाद्' इति नैषधीयप्रकाशकारः। धानादिति तु मल्लिनाथः। अत्र दान-धान इति पदयोरर्थसाम्यम्। तद्धि राज्ञां शिरःसु दानम्/धानम् आक्रम्य वर्तनम्। यद्यपि स्थलेऽस्मिन् दान/धानप्रयोगे, न कोऽपि भेदोऽर्थदृष्ट्या प्रतीयते, तथापि ''अधोविधानात् कमलप्रवालयोः शिरःसु धानात्'' इति अनेकव्यञ्जनस्य सकृदावृत्तेश्छेकानुप्रासस्य स्पष्टत्वात् 'धानाद्' इति पदस्य सुधीभिर्ग्राह्यतरता स्वीक्रियेत। अतः, अत्र मल्लिनाथपाठ उपास्यः। एवञ्च-

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा
न तेषु हिंसारस एष पूर्यते।
धिगीदृशं ते नृपते! कुविक्रमं
कृपाश्रये यः कृपणे पतत्त्रिणि।।[5]

अत्र 'नृपते!' इति नैषधीयप्रकाशे पाठः। 'नृपतेः' इति तु मल्लिनाथः। नृपतेः इत्यस्य ते इत्यनेन सहान्वयः। उभयथाऽर्थागमे नासङ्गतिः। परन्तूभयोरेकतरस्वीकरणावसरे 'नृपते!' इति सम्बोधनं समुचितं प्रतिभाति। सम्बोधनं करुणं विशेषयतीति प्रकृतेऽपि तथा। किञ्च 'ते नृपते!' इत्यत्रानुप्रासोपपत्तिः सुकरा। अतः 'नृपते!' इति पाठो ज्यायान्। अधस्तनपद्येऽपि-

पुलेन मूलेन च वारिभूरुहां
मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः।
त्वयाद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा
कथं न पत्या धरणी हृणीयते।।[6]

इत्यत्र 'ह्णीयते' इति नैषधीयप्रकाशकारो नारायणः। 'घृणीयते' इति तु जीवातुकारो मल्लिनाथः। 'ह्णीञ् रोषे लज्जायाम्' इति धातोः ह्णीयते इति तिङन्तस्य लज्जते इत्यर्थः। तदेवोक्तं नैषधीयप्रकाशे- 'अन्यायवर्तिनि प्रिये स्त्रियो यथा लज्जन्ते' इति। परन्तु 'घृणीयते' इति पदाद् 'घृण्' धातोः अरुचिः, निन्दा इत्यादयोऽर्था बोध्यन्ते। पतिव्रतायाः स्त्रियः पतिं प्रति एवम्भूता अर्था न सङ्गच्छन्ते। पत्युरनुचितकर्मणा पत्न्या लज्जा युज्यते, न तु तन्निन्दा। अतः 'ह्णीयते' इति पाठ उपास्यः।

एवमपि-

ममैकशोकेन विदीर्णवक्षसा त्वया
विचित्राङ्गि! विपद्यते यदि।
तवास्मि दैवेन हतोऽपि हा हतः
स्फुटं यतस्ते शिशवः परासवः॥[7]

इत्यत्र 'ममैव शोकेन' इति नैषधीयप्रकाशकारो नारायणः। 'ममैकशोकेन' इति मल्लिनाथः। यद्यपि अर्थावगतौ भेदाभ्यामुभाभ्यां न कोऽपि क्लेशोऽनुभूयते, तथापीदं विचारणीयं यत् 'ममैव शोकेन' इत्यत्र 'मम' पदेन सहावधारणयोगात् ममेति पदे गुरुत्वम्। परन्तु 'ममैकशोकेन' इति प्रयोगे शोकेन सह एकपदस्य योगात्, एकेति पदेन वैशिष्ट्याधानात्, तेन च प्रकृते वर्णितस्य हंसिन्या विदीर्णवक्षस्त्वस्य बोधः। 'एकेति पदेन आत्यन्तिकेन पार्यन्तिकेन च शोकेन हंसिन्या विपदापन्नत्वं युक्ततरं भातीति ममैकशोकेन' इति पदमवश्यमौचित्यमावहति। अन्यच्च,

तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अयि! साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः॥[8]

अत्र 'अयि!' इति नैषधीयप्रकाशकारः। 'अधि' इति तु मल्लिनाथः। 'अयि' इति सम्बोधनम्। 'साधय साधय' इति प्रयोगस्य ईप्सितं भैमीप्राप्तिलक्षणं मदभिलषितं निष्पादयेत्याशयः। स्वार्तिद्योतनार्थ वीप्सा। साधय गच्छ, साधय कुरु इति वा। अधिसाधयेति कृते सति वीप्साऽभावात् स्वार्तिद्योतनं न व्यज्यते। अतः अधिसाधयेति प्रयोगोऽदुष्टोऽपि अयीत्यपेक्षया नाधिकचारुत्वावह

इति अयीति सम्बोधनस्य प्रयोगो युक्ततरः।

अपि च,

स्मरेण निस्तक्ष्य वृथैव बाणैर्लावण्यशेषां कृशतामनायि।
अनङ्गतामप्ययमाप्यमानः स्पर्धां न सार्धं विजहाति तेन।।[9]

पद्येऽस्मिन् 'वृथैव' इति नैषधीयप्रकाशकारमल्लिनाथादयः। 'तथैवे'ति साहित्यविद्याधरीकारः। वृथैवेति पदमाधृत्येयमेव व्याख्या- स नलः स्मरेण बाणैर्निस्तक्ष्य निर्भिद्य लावण्यं सौन्दर्यमेव शेषं यस्तास्तां कृशतां वृथैवानायि नीतः प्रापितः। लावण्यं स्थितं, शरीरं क्षीणम्। यतः- अनङ्गतामति-कृशङ्गतामङ्गरहिततां मदनत्वं नीयमानोऽप्ययं तेन मदनेन सह स्पर्धां साम्यं न जहाति। रूपसाम्यात् क्रुद्धेन कामेनातिकृशत्वं नीतः ततश्च ईषदङ्गोऽनङ्गः, नञ्समासः। नञ् ईषदर्थे। 'अनुदश कन्या' इति वत्। कृतेऽपि कृशत्वे सुतरां साम्यमेवाभूदिति भावः। अत एव लावण्यशेषामित्युक्तम्। 'तथैव' इति पाठे लावण्यशेषामेव कृशतां तथा अनायि यथानङ्गतामाप्यमानोऽपि तेन सह स्पर्धां न त्यजतीति व्याख्या। अनयोर्व्याख्ययोराशयादिदं स्पष्टं यत् 'वृथैव' इति पाठ आलङ्कारिकसौन्दर्यकारणादर्थसुबोध्यत्वाच्च युक्ततरः। योऽर्थः 'तथैव' इति पाठाद् दौष्कर्येणावगम्यते, स 'वृथैवे'ति पाठात् सौकर्येणासाद्यते सहृदयैः। अतः वृथैवेति पाठः समुचिततरो मन्तव्यः। इदमपि पद्यं द्रष्टव्यम्-

द्राग्दृष्टयः क्षोणिभुजाममुष्मिन्नाश्चर्यपर्युत्सुकिता निपेतुः।
अनन्तरं दन्तुरितभ्रुवां तु नितान्तमीर्ष्याकलुषा दृगन्ताः।।[10]

पद्येऽस्मिन् 'द्राग्दृष्टयः' इति नैषधीयप्रकाशपाठः। 'प्राग्दृष्टयः' इति तु मल्लिनाथपाठः। 'दृगन्ताः' इति नैषधीप्रकाशपाठः। 'दृगंशाः' इति तु मल्लिनाथपाठः। पद्येऽस्मिन् तृतीयचरणे 'अनन्तरम्' इति पदस्य पठितत्वात् प्राग्दृष्टयः इति मल्लिनाथपाठः औचित्यमावहति। किन्तु अतिसुन्दरत्वादाश्चर्येण पर्युत्सुकिता उत्कण्ठिताः क्षोणिभुजां राज्ञां दृष्टयः अमुस्मिन्नले द्राक् झटिति निपेतुः। प्रथमं दर्शनमात्रेणोत्कण्ठिताः सत्यः तस्मिन्नेव लग्नाः स्थिता इत्यर्थः 'द्राक्' पदप्रयोगाद् रुचिरतरो भाति।

अन्यच्च, अनन्तरं तु क्रोधवशाद् दन्तुरितभ्रुवां कुटिलभ्रुवां तेषां दृगन्ता नेत्रप्रान्ता नितान्तमीर्ष्यया कलुषाः कषायिता बभूवुः। अतिसौन्दर्यादीर्ष्याराहित्येन प्रथमं तं दृष्ट्वानन्तरं भैम्यस्मान् विहायैनं वरिष्यतीतीर्ष्यया तं ददृशुरिति भावः। क्रुद्धो हि पूर्णया दृशा न पश्यति इत्यत्र मल्लिनाथमतः 'दृगंशाः' इति पाठो न्याय्यो भाति। किन्तु, अनन्तरं राजभिरवलोकिते सति दन्तुरितभ्रुवां नारीणामहमहमिकया परस्परेर्ष्यावशात् कलुषाः कटाक्षा निपेतुः। सर्वाभिः स्त्रीभिरप्यनुरागवशात् कटाक्षैर्दृष्ट इति भावः। अत्रेदं प्रतीयते यदत्र कटाक्षाः इत्यर्थोऽभिमततरः। स च दृगन्तपदात् स्पष्टं व्यज्यत इति दृगन्ता इति पाठो युक्तः।

एवम्प्रकारेण नैषधीयचरितमहाकाव्ये नैकस्थलेषु पाठभेदा अवलोक्यन्ते। यद्यपि ते पाठभेदास्टीकाकारैः सम्परीक्ष्योररीकृतास्तथापि पाठकस्तेषु कमप्येकं स्वसूक्ष्मेक्षिकया समीक्षणपूर्वकं रुचिरतमं निर्णेतुं शक्नोति। पुरातनग्रन्थेषु पाठभेदास्तु भूषणम्, न तु दूषणम्। स्वस्वबुद्ध्या विद्वांसः स्वाभिमतं पाठमङ्गीकृत्य विचारं चक्रुरिति महिमा तत्तद्ग्रन्थानाम्। किन्तु सम्प्रति प्रसिद्धाँस्तान् पाठभेदानादाय परिशीलनात् परं तेष्वेकस्य स्वीकारे तत्तद्ग्रन्थानां महत्येकरूपता सम्भवेत्। काव्यस्वादेऽपि पाठकानां सौकर्यं भवेत्। काव्यबोधसंस्कृतिविकासश्च सम्भवेत्।

1. नैषधीय- 1.65
2. नैषधीय- 1.9
3. नैषधीय- 1.17
4. नैषधीय- 1.18
5. नैषधीय- 1.132
6. नैषधीय- 1.132
7. नैषधीय- 1.140
8. नैषधीय- 2.62
9. नैषधीय- 3.109
10. नैषधीय- 10.40

नैषधीयचरित महाकाव्य में विवाह विधि

–डॉ. रश्मि मिश्रा

संस्कृत महाकवियों की प्रथम श्रेणी में महाकविश्रीहर्ष ने नैषधीयचरितमहाकाव्य की रचना की थी। महाकवि भारवि और महाकवि माघ के बाद महाकाव्यों की परम्परा में कल्पना की दूरगामिता, शृंगार के विविध विलासों का वर्णन और पाण्डित्य की दृष्टि से नैषधीयचरित महाकाव्य सर्वाधिक प्रसिद्ध हुआ है। श्रीहर्ष संस्कृतसाहित्य में अलंकृतकाव्य शैली के महाकवियों में सर्वोत्कृष्ट रहें हैं। इनका यह महाकाव्य संस्कृत महाकाव्यों की बृहत्त्रयी में प्रधान हैं। कवि ने अपनी मौलिक कल्पना, रमणीय उद्भावना एवं विचित्र उत्प्रेक्षाओं के द्वारा काव्य को उत्कृष्टता प्रदान की है। विदग्धता या रसिकता के साथ प्रकाण्ड पाण्डित्य का समागम उनकी कवि प्रतिभा में हुआ है। श्रीहर्ष ने अपने सभी विषयों के ज्ञान का इस ढंग से परिचय दिया है कि नैषधीयचरित महाकाव्य, काव्य न रहकर विभिन्न विषयों के ज्ञान का कोश भी है। इसी कारण इसे 'विद्वद् औषधम्' कहते हैं। काव्य की रसात्मकता का परिचय तो स्वयं श्रीहर्ष ने ही दिया है कि–

'यत् काव्यं मधुवर्षि' अर्थात् जो काव्य मधुरता की वर्षा करने वाला है और 'शृंगारामृतशीतगुः' अर्थात् जो काव्य शृंगाररूपी अमृत की वर्षा करने के लिए चन्द्रमा है। इस प्रकार श्रीहर्ष का वैदुष्यपूर्ण काव्य अनेक प्रकार के परम्परागत ज्ञान का भंडार है। जिसमें सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिवेश का मिश्रण बहुत वैदग्धपूर्ण है।

श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य की कथावस्तु महाभारत के नलोपाख्यान से ली है।[1] जिसमें नलदमयन्ती की प्रणय कथा का वर्णन है। इसका

संकेत रामायण के[2] सुन्दरकाण्ड में भी मिलता है। साथ ही क्षेमेन्द्र की बृहत्कथा मञ्जरी[3] सोमदेव के कथासरित्सागर[4] तथा तथा अनेक पुराणों[5] में नल और दमयन्ती की कथा का उल्लेख मिलता है। कवि ने अपनी अलंकृत शैली के द्वारा नल दमयन्ती का प्रणय, विवाह, विरह, प्रेमक्रीड़ाऐं एवं सौन्दर्य का वर्णन किया है, जिसमें दमयन्ती स्वयंवर में राजपरिचय प्रकरण व्युत्पत्ति की चरम सीमा है। जिससे अगाध पाण्डित्य का बोध होता है।

हमारे महर्षियों ने मानव जीवन को पवित्र एवं सुसंस्कृत बनाने के लिए संस्कारों का विधान किया है। नैषधमहाकाव्य में संस्कारों के नाम पर केवल दमयन्ती के जन्म और विवाह संबन्धी वर्णन ही उपलब्ध होता है। जिसमें जन्म का तो संकेत मात्र ही है। परन्तु विवाह का तो इतना सांगोपांग वर्णन हुआ है जिससे प्रतीत होता है कि स्वयं भी वहाँ उपस्थित थे।

विवाह एक शास्त्र सम्मत सामाजिक विधान है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्कार है। जिसके द्वारा व्यक्ति की आत्मा एक नये रूप में परिवर्तित कर दी जाती है जहाँ तादात्म्य स्नेह, पारस्परिक सहयोग, दायित्व एवं कर्त्तव्य परायणता के भाव निहित हैं।

नैधधकाव्य के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में स्वयंवर प्रथा का प्रचलन था। उसके अनुसार कन्या अपने वर के वरण में पूर्ण स्वतन्त्र होती थी। श्रीहर्ष ने भी नल और दमयन्ती के स्वयंवर विवाह का वर्णन किया है। स्वयंवर वर्णन का उल्लेख यजुर्वेद के 3,8,11 एवं 34 वें अध्याय में भी मिलता है। नैषधीय विवाह पद्धति यजुर्वेद विवाह पद्धति के समान ही दृष्टिगोचर होती है। सामान्यत: समाज में एक विवाह का ही प्रचलन था, किन्तु राजाओं सामन्तों एवं धनकुबेरों के अनेक पत्नियां होती थीं। नैषधमहाकाव्य में भी अनेक स्थानों पर बहुविवाह का उल्लेख मिलता है। जैसे हंस ने दमयन्ती को अपना परिचय देते हुए राजा नल की रानियों के लिए 'परमाणुमध्या:' इस

बहुवचन का प्रयोग करके बहुपत्नीक होने का संकेत किया है।[6] इसी प्रकार दमयन्ती हंस से कहती है कि तुम सखियों के बीच में स्थित राजा से मेरे लिए प्रार्थना मत करना क्योंकि उस समय प्रियाओं का मुख देखने से उत्पन्न लज्जा और प्रेम से दूसरी स्त्री के विषय में निषेध हो सकता है।[7] ' सपत्नी स्त्रियों की तुलना कडवी नीम की पत्तियों से भी की गई है।[8]

श्रीहर्ष शृंगार रस के कवि है। अपने महाकाव्य में उसके अनुकूल वर्णन किया है। शास्त्रकारों ने शृंगार रस की तीन स्थितियां बताई है। आयोग, संयोग ओर वियोग। नल दमयन्ती के विवाह के सम्बन्ध में तीनों ही सुन्दर तरीके से चित्रित किया है जो हृदय को स्पर्श करता हुआ प्रतीत होता है। श्रीहर्ष ने आयोग में नल और दमयन्ती के पूर्वराग का चित्रण किया है। जिसमें अभिलाषा, चिन्ता आदि कामदि शास्त्रों का वर्णन है जैसे दमयन्ती हंस के मुख से नल का संदेश सुनने से पूर्व ही नल के प्रति आसक्त हो चुकी थी[9] इसलिए हेस के मिलने से पूर्व कवि ने दमयन्ती में अभिलाषा चिन्तन, स्मृति और गुण कथन कामदशाओं का चित्रण किया है। इसी प्रकार संयोग शृंगार वर्णन दमयन्ती के स्वयंवर वर्णन से ही प्रारम्भ होता है। विभिन्न देवताओं की कृपा से राजा नल को पहचान लेने पर भी स्तम्भ, लज्जा, जड़ता आदि भावों के द्वारा वह वरमाला डालने में प्रवृत्त नहीं हो पाती है। तथा उसके कटाक्ष भी प्रिय के मुख तक नहीं पहुँच कर आधे मार्ग से ही लौट जाते है।[10] वियोग में महाकवि ने अपने काव्य में स्वयंवर पद्धति का वर्णन किया है जिसमें कन्या अपने वर का चयन स्वयं करती है। यह चयन पूर्णतः रूप और गुण पर आधारित होता है। विवाह की योगयता में रूप को प्रथम स्थान दिया जाता है। इसीलिए श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य को शृंगारामृतशीतगुः। अर्थात् शृंगाररूप अमृत का चन्द्रमा कहा है। यहाँ कवि ने नायिका के सौन्दर्य में शृंगार रस की मधुर व्यंजना का परिचय दिया है दमयन्ती के अलौकिक सौन्दर्य-वर्णन का कितना आकर्ष है-

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम।।

'नैषध. 2/25'

ऐसा प्रतीत होता है कि दमयन्ती के मुख की रचना करने के लिए ब्रह्मा ने चन्द्रमा को निचोड कर उसका सार भार खींच लिया है। इसी कारण बीच में छिद्र हो जाने से उसके उस पार आकाश की नीलिमा दिखाई पडती है। इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदास ने भी इस प्रकार व्यक्त किया है।

कोउ कह जब विधि रतिसुख कीन्हा
सारभाग ससि कर हरि लीन्हा।
छिद्र सो प्रकट इन्दु उर माही
जेहिमग देखिय नभ परछाही।।

'रामचरितमानस, लंकाकाण्ड'

श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य के प्रथम सर्ग में ही नायिका एवं नायक के सौन्दर्य का वर्णन किया है वह कहते हैं- दमयन्ती के अतिरिक्त कोई अन्य सुन्दरी जब अपने रूप के दर्शनार्थ दर्पण ग्रहण करती है तो दर्पण में अपने सौन्दर्य को नल से तुच्छ देखकर खेद पूर्वक श्वास लेती हुई दर्पण को मलिन कर देती है।

............(नै.1/31)

यहाँ यही भाव व्यक्त होता है कि वर्णनातीत सौन्दर्यशाली नल के साथ केवल लोकोत्तर सौन्दर्यवाली दमयन्ती का ही विवाह सम्भव है, अन्य किसी सुन्दरी का नहीं। तथा इन्द्रादि चारों देव भी राजा नल के अनुरूप सौन्दर्य को देखते हैं तो उनके मुख से अनायास ही निकलता है कि-

''तद्विधवधूवरणार्हं भूषणं स'' (नै.5/67)

अर्थात् इस प्रकार की लोक प्रसिद्ध वधू को वरण करने के लिए यह राजा नल योग्यभूषण स्वरूप है।

'कन्यावरयते रूपम्' इस वचन के अनुसार कन्या केवल सुन्दरता को ही प्रमुखता देती है। श्रेष्ठ जाति, धन अथवा गुण को नहीं। इसी विचार से महाकवि ने स्वयंवर में कुबेर को सम्मिलित नहीं किया। जाति, गुण और धन में उत्तम होते हुए भी उत्तरदिशा के स्वामी कुबेर अपनी कुरूपता के कारण सवयंवर में सम्मिलित नहीं हुए।

जातौ न वित्ते न गुणे न कामः
सौन्दर्य एव प्रवणः स वामः।
स्वच्छस्व शैलेक्षित कुत्सबेरः
प्रत्यगान्न स्त्रितांरां कुबेरः।। (नै.10/13)

श्रीहर्ष ने स्वयंवर समारोह का वर्णन अत्यन्त ही रमणीय ढंग से प्रस्तुत किया है। स्वयंवर के समय कुण्डिनपुरी बहुत अलंकृत एवं आकर्षक थी जो स्वर्ग का भ्रम उत्पन्न करती थी, जिसकी प्रशंसा महर्षि वाल्मीकि, देवगुरु बृहस्पति, दैत्य शुक्राचार्य तथा भगवान् विष्णु, ब्रह्मा, अदित्य एवं लक्षशः यक्ष सिद्ध किन्नर एवं महर्षियों ने भी की है।1 "(नै.10/51-59) तक" स्वयंवर आयोजन में सर्वप्रथम कन्या के पिता ने अपने दूतों के द्वारा समस्त वीर नरेशों को आमन्त्रित करके सभी राजपुत्रों को सिंहासनों पर आसीन होने का निवेदन किया।[2]"**न्यवीविशत्तानथ राजसिंहासन सिंहासनौघेषु विदर्भराजः** (नै.10/3)" भी राजपुत्र विभिन्न प्रकार के आभूषणों से अलंकृत थे, जिनकी रश्मियों से सम्पूर्ण आकाश चित्रलिखित सा प्रतीत होता था।

नभोऽपि किर्मीमकारि तेषां महीभुजामाभरणप्रभाभिः (नै. 10/3)"

इस स्वयंवर शोभा को देखकर ऐसा लगता था मानों ब्रह्मा ने अपने कौशल को प्रर्शित करने के लिए ही युवकों का यह सम्मेलन

आमन्त्रित किया हो। इस समारोह में शस्त्र और शास्त्र के धनी, रूप और लक्ष्मी के आकर समस्त देशों के राजकुमार उपस्थित थे, सभी राजकुमार कुलीन थे कुछ राजकुमार-राजकुमारी को हठात् अपहरण की इच्छा से ही तो वहां उपस्थित थे।[4]

योग्यैः व्रजद्भिर्नृपजा वरीतुं वीरैरनेहैः प्रसभेन हर्तुम्।

द्रष्टुं परैस्ताननुरोद्धुमन्यैः स्वमात्रशेषाः ककुभो बभूवुः॥ (नै. 10/3) स्वयंवर में सम्मिलित होने वाले सभी राजा एवं राजकुमारों का यथोचित संस्कार भी किया गया था।1 "(नै.10/27)" समारोह में केवल राजपुत्रों ने ही नहीं बल्कि इन्द्र, यम, अग्नि और वरुण नामक दिक्पालों ने भी भाग लिया था। सभी राजकुमार कामदेव के समान सुन्दर थे। ऐसा प्रतीत होता था मानों ब्रह्मा ने अपने शिल्पकौशल के प्रदर्शन के लिए ही समारोह का आयोजन किया था। समारोह के प्रमुख तो राजा नल थे इसलिए जिस प्रकार आकाश में चनद्रमा के उदय होते ही समस्त नक्षत्र कान्तिहीन हो जाते हैं उसी प्रकार स्वयंवर मण्डप में राजा नल के पहुँचते ही समस्त क्षत्रिय नरेशों एवं देवताओं की मुख की कान्ति फीकी पड़ गई।

धृताङ्गरागे कलितद्युशोभां तस्मिन्सभां चुम्बति राजचन्द्रे।
गतावताक्ष्णोर्विषयं विलंघ्य क्व क्षत्रनक्षत्रकुलस्य लक्ष्मीः॥
(नै.10/39)

राजा नल के राजभूमि में पहुँचने पर, उनके अभूतपूर्व सौन्दर्य को देखकर राज समाज में किस प्रकार ईर्ष्या, प्रशंसा एवं पराजय आदि के भाव उत्पन्न हो गये श्रीहर्ष ने इसका बहुत सुन्दर वर्णन किया है। स्वयंवर में आये हुए विभिन्न राजकुमारों के चरित्र एवं गोत्र वर्णन, मानवीय शक्ति से परे था इसलिए इस कार्य के लिए भगवती सरस्वती की अवतारण कराई गई है।

'मध्येसमं साऽवततार बाला गन्धर्वविद्यामयकण्ठनाला'
(नै.10/74)

स्वयंवर मण्डप में दमयन्ती के मोहक स्वरूप का भी चित्र प्रस्तुत किया है जहाँ दमयन्ती के अनुपम सौन्दर्य को देखकर समस्त राजसमूह रोमांचित हो उठा, उस समय कोई भी नरेश तर्जनी चटकाये बिना अथवा शिर कम्पन्न किये बिना नहीं रह सका

'अस्मिन् समाजे मनुजेश्वराणां तां खञ्जनाक्षीमवलोक्य केन।
पुनः पुनर्लोलितमौलिना न भ्रुवोरुदक्षेपितसं द्वयी वा॥'
(नै.10/111)

देवताओं के परिचय के पश्चात् सरस्वती दमयन्ती को राजाओं के समीप ले जाकर (सर्वप्रथम पुष्कर द्वीपाधिपति 'सवन' का फिर शाकद्वीप के स्वामी महाराज हव्य, क्रौञ्चद्वीप के स्वामी द्युतिमान, कुशद्वीप के ज्योतिष्मान तथा शाल्मद्वीप के वपुष्मान् का परिचय दिया। अन्त में लम्बूद्वीप के नरेशों में अवन्तिनाथ, गौड नरेश मथुरा नरेश की प्रशंसा करती है। तदन्तर–अयोध्या नरेश आदि) अनेक राजाओं का वर्णन करती है किन्तु नल के प्रति अनुरक्त दमयन्ती के मन में प्रेम लेश मात्र भी अंकुरित नहीं हुआ।

श्रीहर्ष ने राजा नल और दमयन्ती के विवाहोचित शृंगार का चित्रण भी किया है जिसमें सर्वप्रथम मांगलिक द्रव्यों से पूर्ण वेदी पर बिठाया गया, तदन्तर सौभाग्यवती स्त्रियों ने स्वर्ण कलशों से स्नान कराया, स्वर्ण कलशों का मुख आम के पल्लवों से ढका हुआ था। स्नान के बाद कौशेय वस्त्र धारण करवा कर वधू के शरीर पर चन्दनादि का लेप लगाकर दमयन्ती को अलंकृत किया। "(नै.15/26)" सबसे पहले ललाट पर मैनसिल का तिलक लगाया फिर केशों को गूंथा, बालों के सौन्दर्य को बढाने के लिए करुण नामक वृक्ष के पुष्पों से अलंकृत किया, ललाट पर सुवर्णपट्टिका पहनाई गई, नेत्र सौन्दर्य के लिए काजल का प्रयोग किया गया स्वर्ण आभूषणों के अतिरिक्त पुष्प आभूषण भी पहनाये गये वधू का ओष्ठ रंजन भी किया गया, गले में हार पहनाया गया तथा सातलड वाला मुक्ताहार भी पहनाया गया। रानी दमयन्ती के

दोनों हाथों में मंगलसूचक शंख के कंकण पहनाये गये, चरणों में चावक लगाया गया इस प्रकार दमयन्ती का पूर्ण शृंगार हुआ जिससे वह अपने आपको दर्पण में निहारने लगी। ''(नै.15/21-50)

मणीसनाभौ मुकुरस्य मण्डले
बभौ निजास्यप्रतिबिम्ब दर्शिनी।
विधोरदूरं स्वमुखं विधाय सा
निरूपयन्तीव विशेषमेतयोः।।15.50

इसी प्रकार वधू के समान ही वर का भी विवाहोचित शृंगार किया गया। विवाह में वर यात्रा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। कवि ने वर यात्रा का भी वर्णन किया है। बडे हर्षोल्लास के साथ वरयात्रा कन्या के द्वार पर पहुँचती है कन्याद्वार पर हाथी बांधा जाता है जो कन्या के पिता के वैभव और शुभ शकुन का प्रतीक है। मांगलिक वाद्य भी बजाए जाते हैं। कन्या पक्ष के लोग आगे जाकर बारात का स्वागत करते हैं और वर के द्वार पर पहुँचने पर अर्घ्यपाद्यादि के द्वारा पूजन करते हैं। द्वार के दोनों और मंगल सूचक कदली स्तम्भ गाढ़े जाते है। तथा कन्या का पिता द्वारस्थ वर का आलिंगन करते हुए अपना प्रेम प्रकट करते हैं। ''(नै.16/7-11 तक)'' वर यात्रियों में हास परिहास भी होता है। कुछ स्थल तो बहुत ही आकर्षक है। जैसे भोजन के अन्त में मुख शुद्धि के लिए सुपारी का सेवन तो किया किन्तु बिच्छू के आकार के पान के बीडे को दूर फैंक दिया। ''(नै.16/109)'' इसी प्रकार पन्नामणि के बने हुए भोजन के पात्रों को देखकर वर यात्रियों ने उन्हें पत्तल समझा और क्रुद्ध हो गये। ''(नै.16/66)'' प्रायः देखा जाता है कि विवाह आदि संस्कारों में लोक में प्रचलित रीतियां भी अपनायी जाती है। नैषधमहाकाव्य में विवाह विधि में लोक रीति का भी वर्णन मिलता है। ये सभी मांगलिक क्रियाऐं सौभाग्यवती स्त्रियों के द्वारा ही सम्पन्न होती है।

सृजन्तु पाणिग्रहमंगलोचिता मृगीदृशः स्त्रीसमयस्पर्शः क्रियाः

विवाह वैदिक एवं स्मार्त्त विधियों के द्वारा ही सम्पन्न होता है। कन्यादान भी ज्योतिषिवेत्ता विद्वानों के द्वारा बतायी गई दोष शून्य शुभलग्न में ही किया जाता है। "(नै.15/7-8)" कुछ स्त्रियाँ मंगलमय चौक बनाती है तो कुछ आपूप आदि के निर्माण में व्यस्त रहती है। इस समय सभी प्रकार के मांगलिक वाद्य भी बजाये जाते हैं। "(नै. 15/7-8)" वर भी विवाह के पूर्व गुरुजनों एवं ब्राह्मणों का वन्दन करता है। कन्या के द्वार पर पहुँचने पर उसे सर्वप्रथम दधिघृतमिश्रित मधुपर्क खिलाया जाता है तथा वर एवं वधू की भुजाओं पर कुश भी बांधते है। वधू का हाथ वर के हाथ पर रखा जाता है तब सप्तपदी कार्य सम्पन्न होता है तथा वर वधू दोनों प्रदक्षिणा करते है। "(नै.15/12 एवं 16)" फिर अश्मारोहण कार्य सम्पन्न होता है जिसमें कन्या का चरण पत्थर पर रखा जाता है-जिसका अर्थ है- 'तुम पत्थर के समान स्थिर हो' इस अभिप्राय के मंत्र का उच्चारण करते हैं।

स्थिरा त्वमश्मेव भवेति मन्त्रवाक्
नेशदाशास्य किमाशु तां ह्रिया।
शिला चलेत्प्रेरणया नृणामपि
स्थितेस्तु नाचालि बिडौजसाऽपि सा।।

"(नै.16/36)" तदनन्तर वधू का वर के साथ ग्रन्थिबन्धन होता है यह कार्य कुलपुरोहित करता है। वधू को ध्रुवदर्शन एवं अरुन्धती दर्शन कराकर लाजाहुति की विधि में वधू की अंजलि वर की अंजलि के ऊपर रखते हैं तथा वर वधू की अंजलियों के नीचे छिद्र से गिरते हुए लाजा अन्ततः अग्नि में गिराते हैं। "(नै.16/40)" वधू अंजलि से लाजाहुति के धूम को ग्रहण करती है। अन्त में वर एवं वधू कौतुकागार में प्रवेश कर के वहां तीन दिन तक पूर्व ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए निवास करते है इस प्रकार विवाह विधि सम्पन्न होती है।

नैषध काव्य में यह विवाह राजकीय विवाह है उसके अनुसार दहेज के वैभव एवं ऐश्वर्य का भी वर्णन मिलता है। महाराज भीम ने

जामाता नल को रमणीय चिन्तामणि माला, चमकता हुआ खड्ग, सुन्दरमूढ वाली कटार, अप्रतिहत गति वाला रथ तथा उच्चैः श्रवा सर से भी सुन्दर अश्व प्रदान किये थे। ''(नै.16/17,18,21,23एवं25)'' इसके अलावा महाराज भीम ने अत्यधिक सुन्दर 'पीकदान' भी जामाता को भेंट दिया था जिसकी विशेषता यह थी कि यह एक ही माणिक्य से निर्मित था।

'तमेकमाणिक्यमयं महोन्नतं, पतद्ग्रहं ग्राहितवान् नलेन सः'

पन्नामणि से निर्मित 'विषदौष' नामक भोजन पात्र भी उपहार स्वरूप दिया गया था जिसकी विशेषता यह थी कि उस थाल में रखा हुआ किसी भी प्रकार का विषैला भोजन प्रभावहीन हो जाता था।

'अदत्त भीमोऽपि स नैषधाय तां
हन्मिणेर्भोजनभाजनं महत्' (नै. 16/29)

इसके अतिरिक्त ऐरावत के समान निरन्तर मदस्त्रावी गजराज भी नल को प्रदान किया था। इस प्रकार कवि ने यहाँ विवाह से संबधित प्रत्येक विधि का वर्णन करते हुए अन्त में पुत्री के विदाई का वर्णन किया है। नाटककार भास ने अपने नाटक प्रतिज्ञायौगन्धरायण में पुत्री के विवाह के बाद उसकी विदाई में माता-पिता के दुःख का वर्णन किया है कि-

अदत्ते त्यागता लज्जा दत्तेति व्यथितं मनः।
धर्मस्नेहान्तरे न्यस्ता दुःखिताः खलु मातरः॥ (2/7)

इस प्रकार पुत्री के प्रस्थान के समय माता पिता के दुःख का अनुमान लगाया जा सकता है जिससे पिता का पुत्री के लिए दिया हुआ उपदेश भारतीय दाम्पत्य धर्म की मर्यादा को प्रस्तुत करता है। पिता अपनी पुत्री को समझाते हुए कहते हैं-

पितात्मनः पुण्यमनापदः क्षमा
धनं मनस्तुष्टिरथाखिलं नलः।
अतः परं पुत्रि न कोऽपि तेऽहम्
इत्युदस्रुरेष व्यसृजन्निजौरसीम्॥ (नै.16/118)

---

1. 'महाभारत के वन पर्व-53-57 अ.तक'
2. 'रामायण सुन्दरकाण्ड-24/9
3. 'बृहत्कथामञ्जरी-1231-371
4. 'कथासरितसागर-9/6237'
5. 'मत्स्यपुराण-12/56 लिंग पुराण. 66/23-25'
6. 'नैषधचरित- 3/41'
7. 'नैषधचरित- 3/92
8. 'नैषधचरित- 20/90'
9. 'नैषधचरित- 1/33'
10. 'नैषधचरित- 14/26'

नैषधीयचरित में सामाजिक-व्यवस्था

डॉ. अरविन्द कुमार

नैषधीयचरितम् श्री हर्ष की उत्कृष्ट कोटि की रचना हैं। यह 22 सर्गो का एक विशालकाय महाकाव्य हैं इसमें नल और दमयन्ती के पारस्परिक प्रेम से विवाहोपरांत क्रीडाओं तक की पवित्र कथा वर्णित हैं।

भारतीय संस्कृति साहित्य भारतीय समाज के आचार विचारों का उसकी उन्नति-अवनति तथा उसकी सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतनाओं का प्रतीक हैं। साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है। समाज के उत्थान पतन, वृद्धि-ह्रास, समृद्धि-व्यवृद्धि तथा सामाजिक सामयिक उत्त्कर्षापकर्ष का पूर्ण एवं सुपरिनिष्ठित ज्ञान हमें तद्देशीय एवं तत्कालीन साहित्य से होता हैं।

इसी के साथ कहीं कहीं पर नल और दमयन्ती के गुणों के साथ सामाजिक व्यवस्था रूपी वर्णन देखने को मिलता हैं।

राजा नल के समय में सभी लोग किसी न किसी अंश में तप किया करते थे। यहां तक कि अधर्म भी अपने एक चरण की छोटी अँगुली से भूमि का स्पर्श करते हुए तप में संलग्न था।

अवश्यम्भाविभावानां प्रतिकारो भवेद्यदि।
प्रतिकुर्युर्न किं नूनं नलरामयुधिष्ठिरः।।

इस वचन के अनुसार सत्युग इत्यादि युगों के क्रम से नल, रामचन्द्र और युद्धिष्ठिर का वर्णन होने से राजा नल का होना सत्ययुग में सिद्ध होता है। सत्ययुग में उत्पन्न हुए राजा ने धर्म अथवा पुण्य

को चारों चरणों से स्थिर कर दिया था। उस समय सभी व्यक्ति तपश्चर्या में संलग्न थे। यहां तक कि धर्म विरोधि अधर्म भी एक चरण से पृथ्वी पर निवास करता हुआ अतिशय दुर्बल होकर तपस्वी बन गया था। सत्ययुग में धर्म अथवा पुण्य की स्थिति चारों चरणों (तप, ज्ञान, यज्ञ और दान रूप चारों चरणों) से स्थित रहा करती है।

पदैश्चतुर्भिः सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना के न तपः प्रपेदिरे।
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन् दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम्।।[1]

राजा नल ने अपने सौ से भी अधिक शत्रु राजाओं पर विजय प्राप्त की थी और इस भांति शत्रु राजाओं पर विजय प्राप्त कर उनकी प्रतापाग्नि को बुझा दिया था।

राजा नल युद्ध में देदीप्यमान अपने धनुष की टङ्कार को करते हुए मेंघों से हुई वर्षा के समान वाणों को बरसाते थे। बाणों की इस वृष्टि से राजा नल के सौ सौ से भी अधिक शत्रुओं की प्रतापरूपी अग्नि बुझ गई और उनके काले-काले अंगारों के समान अपयश चारों ओर फैल गए। अत्यधिक वर्षा होने पर प्रज्ज्वलित अग्नि बुझ जाया करती है और उसके बुझे हुए काले-काले अंगार चारों ओर फैल जाया करते हैं। इसी प्रकार राजा नल के बाणों की वर्षा से सभी शत्रु राजा पराजित हो गये .तथा उनकी कीर्ति नष्ट हो गयी और उनका अपयश चारों ओर व्याप्त हो गया। कहने का तात्पर्य है कि राजा नल शत्रु विहीन निर्द्वन्दता के साथ राज्य का संचालन करते थे और उनकी कीर्ति सर्वत्र व्याप्त थी।

स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्धनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे।
निजस्य तेजश्शिखिनः परश्शता वितेनुरङ्गारमिवायशः परे।।[2]

अतिवृष्टि (वर्षा का आवश्यकता से कहीं अधिक हो जाना) अनावृष्टि (वर्षा का न होना अथवा सूखा पड़ जाना), शलभ, (पतंगो-टिड्डियों आदि का बहुत अधिक संख्या में आगमन) चूहों

का बहुत अधिक बढ़ जाना पक्षियों का बहुत अधिक संख्या में आगमन तथा उनके द्वारा फसल इत्यादि का विनाश किया जाना, समीपस्थ (शत्रु) राजा लोग इन छै प्रकार की ईतियों (राज्य में आने वाली विपत्तियों) से रहित संपूर्ण पृथ्वीतल पर उस (राजा नल) द्वारा रोकी गई। राजा नल के संपूर्ण राज्य में अतिवृष्टि आदि छै आपपत्तियों का प्रवेश हो पाता था। इस कारण उनका राज्य इन छै प्रकार की इतियों (आपपत्तियों) से रहित था इनमें से सर्वप्रथम इति का नाम अतिवृष्टि हैं। इन अतिवृत्तियों को समस्त भूतल पर कहीं भी रूकने हेतु स्थान प्राप्त न हो सका।

अतः ये अतिवृष्टियों शत्रुराजाओं की स्त्रियों के समीप पहुंच गयी उनके नेत्रों को ही अपना आश्रय बना लिया।

कहने का तात्पर्य यह हैं कि राजा नल ने सभी शत्रुओं का पृथ्वीतल से विनाश कर दिया था। अतएव उन सभी की स्त्रियां अपने-अपने पतियों के शोक में निरंतर रोया करती थीं। संसार में भी ऐसा देखा जाता है कि किसी के द्वारा निकाला गया हुआ व्यक्ति उसके शत्रु राजाओं की स्त्रियों के नेत्रों में जाकर आश्रय प्राप्त कर लिया था।

निवारितास्तेन महीतलेऽखिले निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टयः।
न तत्यजुर्नुमनन्यसंश्रयाः प्रतीपभूपाल-मृगीदृशां दृशः।।[3]

राजानल की दानवीरता का वर्णन करते हुए महाकवि लिखते हैं कि उनके राज्य में दरिद्र अथवा निर्धन व्यक्ति नहीं था क्योंकि राजानल याचकों की इच्छा से भी कहीं अधिक दान देनेवाले थे।

यह (व्यक्ति) दरिद्र (निर्धन) होगा इस प्रकार की याचक लोगों के मस्तको पर ब्रह्मा द्वारा लिखी गई अथवा अंकित की गयी लिपि को याचकों को उनकी याचना से भी अधिक दान देने वाले होने के कारण कल्पवृक्ष को अपनी दानशीलता द्वारा नीचा दिखला

देने वाले राजा नल ने याचकों की निर्धनता का पूर्ण रुपेण अभाव करके, क्या असत्य नहीं कर दिया? अर्थात् ब्रह्मा द्वारा याचकों के मस्तको पर लिखी गयी यह दरिद्र होगा इस लिपि को राजा नल ने पूर्णतया असत्य सिद्ध कर दिया।

कहने का तात्पर्य यह है कि राजा नल ने याचको को माँग से कहीं अधिक दान देकर उनकी निर्धनता को सदैव के लिए दूर कर दिया। अतएव उनके राज्य में निर्धन अथवा दरिद्र कहा जाने वाला व्यक्ति नाममात्र के लिए भी विद्यमान नहीं था। प्रत्येक व्यक्ति धनधान्य से परिपूर्ण तथा सुखी था।

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्।
मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्रयद्ररिद्रतां नृपः।।[4]

राजा नल अखिल विद्याओं को ज्ञाता थे। विद्याओं की संख्या चौदह मानी गयी है। (अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्याय विस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश।।) गुरुमुख से उन्होंने सभी विद्याओं का अध्ययन किया था और तदनन्तर उसके विषय को पूर्णतया हृदय ग्राही बना लिया था। विद्या का अध्ययन तथा उसे आत्मसात् कर लेने के पश्चात् तदनुकूल आचरण किये जाने के निमित्त मनुष्य की इच्छा स्वयं ही हुआ करती है। अतः तदनुसार राजा नल ने भी इन चतुर्दश विशाओं के ज्ञान के आधार पर अपने जीवन का निर्माण किया। जिस वस्तु या विद्या को मनुष्य भली भाँति समझ लिया करता है और तदनुकूल आचरण भी बना लिया करता है फिर उसके हृदय में यह भावना उत्पन्न हुआ करती है कि जो उत्तम वस्तु अथवा विद्या है उसे सर्वजनहिताय कर देना और भी श्रेयष्कर होगा। इस दृष्टि से राजा नल ने योग्य एवं विद्वान् गुरुओं को यथोचित द्रव्य आदि देकर इन सभी विद्याओं ज्ञान सभी के लिये अर्थात् समाजव्यवस्था ज्ञान के लिए वितरित कराया। इस भाँति प्रत्येक विद्या को अध्ययन, अर्थज्ञान, तदनुकूल और प्रचारण

इन चार प्रकारों के आधार पर उसने चार-चार अतः सभी विद्याओं के (14X4=56) प्रकार हो गये। इस भाँति उस राजा नल ने उपर्युक्त चौदह विद्याओं को चतुर्दशत्व को प्राप्त करा दिया। चतुर्दशत्व से यहाँ यही अभिप्राय है कि चतस्त्रः दशाः मासां तासां भावः चतुर्दशत्वम् अर्थात् चार दशाओं (अवस्थाओं) का होना। चौदह को ही चौदहपन को प्राप्त करा दिया, यह अर्थ करने में कोई बात स्पष्ट न होकर यही शंका उत्पन्न होता हैं कि विद्यायें तो चौदह ही थी हीं फिर उन चौदह को चौदहपन को क्या प्राप्त करा दिया। जहाँ चौदह होगा वहाँ चौदहपन तो स्वयं ही विद्यमान रहेगा। फिर इसमें कौन सी विचित्रता या नवीनता की कल्पना की जा सकती है। अतः चतस्त्रश्च दशच चतुर्दश, चतुर्दशानां भावः चतुर्दशत्वम् अर्थात् चौदह संख्या का होना यह अर्थ किया जाना पूर्णरूपेण निरर्थक और कवि का भी अभिष्ट न रहा होगा क्योंकि इसमें किसी वैशिष्ट्य की प्रतीति अथवा अनुभूति नहीं होती है। अतः महाकवि का चतुर्दशत्व शब्द से "चार दशाओं का होना" ही अर्थ अभिष्ट रहा होगा। इस अर्थ के आधार पर यह बात स्वयं ही स्पष्ट हो जाती है कि उस राजा नल ने चतुर्दश अवद्याओं में प्रत्येक को चार, चार अवस्थाओं में परिणत कर दिया था। इससे राजा नल का चौदहों विद्याओं का अध्येता, ज्ञाता आचारणकर्त्ता तथा प्रचारक समाजव्यस्था के लिए होना स्पष्ट हो जाता हैं।

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्त्रः प्रणयन्नुपाधिभिः।
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतः स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम्।।[5]

वन (को देखने के विषय) में उत्सुकतापूर्ण राजा नल ने, शिवजी द्वारा त्याग दिये जाने के कारण उत्पन्न तथा सम्पूर्ण दिशाओं में फैलने वाले अपयश को धारण करने वाले, खिली हुयी पंखुड़ियों के बीच बैठे हुये भ्रमरों की पंक्ति के रूप में (अपकीर्ति से युन्त उस) केतकी के फूल को देखा।

राजा नल ने उस उपवन में भ्रमरों से युन्ल केतकी के फूल को देखा तब उसके मन में बड़ी उत्सुकता उत्पन्न हुयी। ऐसा प्रतीत होता था कि उस फूल के अन्दर भौरें नहीं थे अपितु वह केतकी के फूल की अपकीर्ति ही थी जो शिव जी द्वारा (उसका) त्याग कर दिये जाने के कारण उत्पन्न हुई थी और वह उसकी अपकीर्ति फूल में से निकलकर उड़ते हुये भ्रमरों के रूप में सभी दिशाओं में व्याप्त हो रही थी। केतकी का फूल शिव-पूजा में वर्जित है और इसी कारण उसकी यह अपकीर्ति हुयी हें इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कथानक शिव पुराण में उपलब्ध होता है -

एक बार भगवान् राम-लक्ष्मण तथा सीता के साथ गया में पितरों के श्राद्ध हेतु गये। वहाँ पहुँचकर राम ने लक्ष्मण को श्राद्ध सामग्री लाने के लिये नगर में भेजा और स्वयं फल्गु नदी के किनारे बैठकर पितरों का आवाह्न करने लगे। लक्ष्मण के आने में अधिक विलम्ब हो जाने के कारण राम भी श्राद्ध सामग्राी लाने हेतु नगर को चले गये। उन दोनों में कोई भी उक्त सामग्री को लेकर लौट नहीं पाया था कि इसी बीच राम के पितरों के हाथ श्राद्धपिण्ड को लेने के निमित्त बाहर निकले। यह देखकर सीता जी घबराने लगीं। उसे घबराया हुआ देखकर आकाश वाणी द्वारा पितरो ने कहा "हे वत्से! श्राद्ध सामग्री के विद्यमान न होने पर तुमको घबराने की कोई आवश्यकात नहीं है। तुम बालू का ही पिण्ड बनाकर हम लोगों के श्राद्ध करो। सीता ने ऐसा ही किया तथा अपने इस कार्य में उपस्थित गौ, अग्नि, फलगु, नदी और केतकी पुष्प को साक्षी बनाया। विधिवत् बालू के श्राद्धपिण्ड लेकर पितरों के हाथ जब अन्तर्निहित हो गये तब राम व लक्ष्मण उक्त सामग्री लेकर वापिस आये। उस समय सीता ने पूर्वोक्त चारों साथियों के समक्ष किये गये पिण्डदान की बात कही। किन्तु उन चारों साथियों ने कहा कि हमको कुछ भी ज्ञात नहीं है। तब पितरों ने आकाशवाणी द्वारा श्राद्धपिण्ड की स्वीकृति को बतलाया और पुनः श्राद्ध करने

का निषेध किया। तब सीता जी ने उपर्युक्त चारों को क्रमशः यह शाप दिया - (गौ को) तुम आगे (मुख) भाग से अपवित्र होवो (अग्नि को) तुम सर्वभक्षी होओ। (फल्गुनदी को) तुम निर्जल (अन्तर्जल होओ। (केतकी पुष्प को तुम शिव जी के प्रिय न रहो।

उसी समय से शिव-पूजा में केतकी-पुष्प का उपयोग किये जाने का निषेध है। उस समय इस प्रकार का भी सामाजिक व्यवस्था था।

रूविनिद्रपत्रालिगतालिकैतवान्मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम्।
दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः स कौतुको तत्र ददर्श कैतकम्।।

---

1. प्र. सर्ग श्लोक -7
2. प्र. सर्ग श्लोक-9
3. प्र. सर्ग श्लोक-11
4. प्र. सर्ग. श्लोक -15
5. प्र.सर्ग श्लोक -4
6. प्र.सर्ग श्लोक -78

साहित्यबिन्दौ दर्शिता नैषधीयदोषाः

–अनिलकुमारः

दोषाः काव्यसौन्दर्यस्यापकर्षका भवन्ति तेषां च समावेशेन काव्यकलुषितो भूत्वा हेयतामाप्नोति। सर्वेषां कृतेऽत्रावधेयं यत् कविना एवं काव्यं कर्त्तव्यं यस्मिन् यथासम्भवा दोषा न स्युः, अन्यथा तत्काव्यं नाद्रियते केनापि। अतो दोषाणां ज्ञानमावश्यकं काव्यरचनायाः पूर्वं काव्यरचयितृणां कृते। न केवलं काव्येऽपितु सर्वेषु विषयेषु सर्वेषु शास्त्रेषु चास्य ज्ञानमावश्यकम्। कोषग्रन्थे शब्दकल्पद्रुमे दोषशब्दस्य व्युत्पत्तिर्विषये– ''दोषः पु. (दुष्यते इति दोषः दुष् वैकृत्ये+णिच्+भावे घञ) दूषणम्, अपि च-दूष्यत्येनेनेति करणे घञ्।) पापम् इति मेदिनी। घे, 411 वातपित्तकफाः। इति शब्द चन्द्रिका।[1]इत्युक्तमस्ति, यथा मानवस्य शरीरे काणत्वखञ्जत्वादयः तथैव काव्ये दोषाः तस्यात्मभूतं रसमपकर्षयन्ति। काव्यशास्त्रपरम्परायां दोषाणां वर्णनं भरतस्य नाट्यशास्त्रे सर्वप्रथमं प्राप्यते। तेन नाट्यशास्त्रे दश दोषाः स्वीकृताः, अपि च गुणा दोषाणां विपर्ययरूपेणोल्लिखिताः।[2] भामहस्य मते दुःसुतेन यथा पिता निन्द्यते तथैव दुष्काव्येन कविर्निन्द्यते। कुकाव्यं साक्षान्मरणसदृशमेव भवति।[3] काव्यादर्शकारो भणति यत् दोषः काव्यस्य विपत्तये भवति। तन्मते दोषरहितमलङ्कारगुणवत्काव्यं कामधेनुरिव भवति परञ्च दुष्काव्यं तु मूर्खतामेव द्योतयति। यथा सुन्दरशरीरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगं तथैवाल्पदोषयुक्तं काव्यम्। आचार्यवामनो गुणाविपर्ययात्मनो दोषा इति स्वीकरोति।[4] आचार्येणानन्दवर्धनेन दोषस्य स्वरूपं रसस्यापकर्षकत्वेन विघातकत्वेन च निर्धारितम्।[5] यत्र दोषो रसस्यापकर्षकस्तत्रैव सः, यत्र नैव तत्र न। एवं दोषाणां नित्यत्वमनित्यत्वमपि सञ्जातम्। काव्यप्रकाशकारः साहित्यदर्पणकारश्चैवमेव प्रतिपादयतः।[6] एवं सवैराचार्यैर्यथासम्भवं दोषस्वरूपस्य विषये निगदितम्।

साहित्यबिन्दुकारस्याभिमतम् : साहित्यबिन्दुकारस्य मते काव्यस्य येऽपकर्षकास्ते दोषास्सन्ति यतोहि 'रसोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वेनैव काव्यस्यापकर्षकत्वम्' तस्माद्रसस्यापकर्षकोऽपि अनेनैवावगन्तव्यम्।'[7] स चापकर्षः कुत्रचित्परम्परया, कुत्रचिच्च साक्षादेव काव्यं दूषयति अनया व्युत्पत्त्या दोष इति। रसमपकर्षयन्ति इत्यत्र रसशब्देन रसाभासो भावाभासो भावोदय अपि ग्राह्याः। रसस्यापकर्षः त्रिधा भवति रसास्वादे प्रतिबन्धकत्वात्, रसोत्कर्षे विघातकतत्त्वानामागमनात्, रसास्वादे विलम्बकारणाच्च। नीरसे काव्ये दोषो नाङ्गीकार्यो यतोहि नास्ति तत्र रस इति न, प्रत्ययविघातकदोषत्वात् तत्रापि दोषः। यद्यपि सर्वथा निर्दुष्टकाव्यमसम्भवम्, तथापि तादृशं काव्यं कर्त्तव्यं यत्र रसस्यापकर्षो नैव स्यात्। आचार्येणात्र प्रसङ्गेऽस्मिन् दोषाणां हेयता कथमित्यस्मिन् विषये दण्डिनः, भोजराजस्य च मते प्रस्तुते। दण्डिनो मतं पूर्वमुक्त्वादत्र भोजस्यैव मतं प्रस्तूयते। तद्यथा वृत्तौ साहित्यबिन्दु-कारेणोक्तम् – "भोजोऽप्याह-दोषाः पदानां वाक्यानामर्थस्य च रसस्य ये। हेयाः काव्ये कवीन्द्रैस्ते सर्वेषां विदुषां मते।"[8] इति।

दोषाणां भेदाः - आचार्यभरतेन दश, भामहेन दश, दण्डिना दश दोषाः स्वीकृताः।[9] मम्मटेन सप्तसप्तति दोषाः स्वीकृताः।[10] एवं ज्ञायते यत्सर्वेषामाचार्याणां मते दोषाणां सङ्ख्या भिन्ना भिन्ना वर्तते। आचार्यभामहेन काव्यालङ्कारे दोषनिर्णयो नामकोऽध्याय एव समाहितः। परं च दोषाणां प्रामुख्येन ये भेदाः सन्ति ते-पदपदांशवाक्यार्थ-रसरूपेणैवाङ्गीक्रियन्ते।

आचार्यच्छज्जूरामशास्त्रिणा साहित्यबिन्दौ पदवाक्यार्थरसदोषाणां स्वरूपं तेषामुदाहरणानि च प्रतिपादितानि। अत्रावधेयं यच्छास्त्रिणा सर्वाण्युदाहरणानि दोषप्रकरणे श्रीहर्षस्य नैषधीयचरितादेव गृहीतानि सन्ति। अत्र सर्वे दोषास्तेषामुदाहरणानि च साहित्यबिन्दुकारसम्मतमेव प्रस्तूयन्ते–

पददोषाः - पदं दूषयन्ति इति व्युत्पत्त्या पददोषाः, अपि च पदेषु जायमाना दोषाः पददोषाः! आचार्यमम्मटेन काव्यप्रकाशे, विश्वनाथेन च साहित्यदर्पणे ये दोषाः प्रतिपादितास्तेषु श्रुतिकटुत्वम् अप्रयुक्तम्,

सन्दिग्धम्, व्यर्थम्, अश्लीलम्, अप्रतीतम्, असाधुः, अवाचकम्, क्लिष्टत्वञ्चैते नव पददोषाः साहित्यबिन्दुकारेण स्वीकृतास्सन्ति।

1. **श्रुतिकटुत्वम्** - कष्टेन श्रूयते श्रवणमनुभूयते यस्य स श्रुतिकटुस्तस्य भावं श्रुतिकटुत्वं परुषवर्णानां श्रवणत्वात्। यथा–

क्रियां प्राह्लेतनीं कृत्वा निषेधन्याणिना सखीम्।
कराभ्यां पृष्ठगः तस्यान्यमिमीलदसौ दृशौ।।[11]

अत्र माधुर्यगुणयुक्तः शृङ्गाररसस्तथापि णधरठादिभिर्वर्णैः श्रुतिकटुत्वं दोषः। शृङ्गारे एतेषां वर्णानां दोषत्वम्, वीररौद्रबीभत्सेषु च गुणत्वम्।

2. **अप्रयुक्तम्** - न प्रयुज्यते काव्ये यत्पदं तदप्रयुक्तम्। कोषग्रन्थे व्याकरणे च यानि पदानि शुद्धानि तथापि कविभिरनादृतानि अप्रचलितत्वात्। यथा– "**मुखमयं पद्मः प्रिये तावकम्**[12]" अत्र पद्मः शब्दो यद्यपि कोषग्रन्थेषु पुल्लिङ्गे विद्यते तथाप्यत्र काव्ये न कविभिराद्रियते तस्मादप्रयुक्तम्।

3. **सन्दिग्धम्** - सन्देहो विद्यते यस्मिन् तत् सन्दिग्धम्। यत्र वक्तृतात्पर्ये सन्देहजनकत्वं तत्र सन्दिग्धत्वम्। यथा–

स्मितेन गौरी हरिणी दृशेयम्, वीणावती सुस्वरकण्ठभासा।
हेमेव कायप्रभयाङ्गशेषैः, तन्वीमतिं क्रामति मेनकपि।।[13]

श्लोकेऽस्मिन् गौरी-हरिणी वीणावती-हेमादिभिर्दमयन्त्या योपमा कृता सा द्विपदं चतुष्पदं वेति सन्देहः। अपि च शाब्दबोधविलम्बात्, पदानां श्लिष्टत्वाच्च सन्दिग्धदोषः।

4. **व्यर्थम्** - यत्र पादपूरणमात्रप्रयोजनम्, अर्थात् विनष्टो यस्यार्थो विनष्टार्थो व्यर्थमिति। यत्र तु हा चेत्यादयो वर्णाः पादपूरणाय प्रयुज्यन्ते तत्र व्यर्थदोषः, यथा–"**येषु येषु सरसादमयन्ती भूषणेषु यदिलापि गुणेषु**[14]" अत्र यद्यपी शब्दौ व्यर्थौ वा इत्यनेनैव प्रयोजनसिद्धत्वात्।

प्रयोजनस्य ज्ञानव्यग्रतात्र दूषकताबीजम्।

5. अश्लीलम् - श्लीलमिति विनययुक्तं शोभायुक्तं च। यत्र न श्लीलं तत्राश्लीलमसभ्यार्थद्योतकत्वात्। तच्च व्रीडाजुगुप्सामङ्गलभेदात् त्रिधा। तत्रामङ्गलस्य यथा–

तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अधिसाधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः॥[15]

पद्येऽत्र तव वर्त्म शिवं निवर्ततामित्यस्य स त्वं त्वरितं मा आगम इत्यत्र छेदेऽमङ्गलं द्योतयति। आचार्येण व्रीडाजगुप्सयोरपि उदाहरणे ग्रन्थे प्रदर्शिते।

6. अप्रतीतम् – शास्त्रैकदेशप्रसिद्धमप्रतीतम् अर्थात् न प्रतीयते सर्वेषु शास्त्रेषु यत् तदप्रतीतम्। एकस्मिन्नैव शास्त्रे यत्पदं प्रसिद्धमन्यत्राप्रसिद्धं तस्मात्कारणात्तत्राप्रतीतम्। यथा–

''**ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये**[16]'' अत्र विर्वतशब्दो वेदान्ते प्रसिद्धत्वात् काव्ये चाप्रसिद्धत्वाद् अप्रतीतम्।

7. असाधुः - यः शब्दो व्याकरणशास्त्रे सिद्धः, उच्चारणे वा पुण्यभाजनः स साधुः, तस्माद्विरुद्धोऽसाधुरिति। यथा–

''**बुद्धौ न धर्मः खलु शेष बुद्धौ**[17]॥'' इत्यत्र धर्मस्य स्थाने दध्म इति पदं साधुः।

8. अवाचकम् - न वाचकमित्यवाचकम् अर्थात् यत्पदं काव्ये प्रकृतार्थस्य न वाचकस्तस्य पदस्य प्रयोगो यत्र तत्रावाचकमिति। यथा–

''**चन्द्राभमाभ्रं तिलकं दधाना**[18]।'' अत्र दधानपदं विदधानार्थस्यावाचकम्। विसंसर्गविधाने तस्य नियमशक्तित्वादिति।

9. क्लिष्टत्वम् - यस्यार्थस्यावगमः क्लेशेन भवति तत्पदं क्लिष्टम्, अर्थात् न सामान्यधियार्थावगमः। यथा–

ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये, लोकेश लोकेशय लोकमध्ये।
तिर्यञ्चमप्यञ्च मृषाऽनभिज्ञ रसज्ञतोपज्ञसमज्ञमज्ञम्।।[19]

श्लोकेऽत्र हे कृशोदरि। ब्रह्मलोकवासिनां मध्ये मूर्खमपि मां विद्धिरित्यर्थः परञ्च परमार्थतः -सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयादित्यस्य प्रथमं प्रवर्तकमिति व्यवहितो भवति क्लिष्टत्वात्। एवं साहित्यबिन्दुकारेण नव पददोषाः स्वीकृता येषामत्र विवेचनं मया कृतम्।

पदांशदोषा : - ये दोषाः पदस्य कस्मिन्नपि अंशे विद्यमानत्वात् तदंशं दूषयन्ति ते पदांशदोषाः। काव्यप्रकाशे साहित्यदर्पणे चैतेषामुदाहरणानि प्रदत्तानि सन्ति परञ्च साहित्यबिन्दुकारेणास्मिन् प्रसङ्गे नैव किमप्युक्तं न चोदाहरणानि प्रस्तुतानि।

वाक्यदोषाः - ये दोषाः सम्पूर्णवाक्यं दूषयन्ति ते वाक्यदोषाः। अर्थात् ये दोषा बहुषु पदेषु विद्यमानत्वात् तैः पदैर्युक्तमखिलं वाक्यं दूषयन्ति ते वाक्यदोषा भवन्ति। आचार्यो मम्मटः काव्यप्रकाशे त्रयो दशवाक्यदोषान्, विश्वनाथश्च साहित्यदर्पणे त्रयोविंशति वाक्यदोषान् स्वीकुर्वतः।[20] साहित्यबिन्दुकारेण चतुर्दश वाक्यदोषाः स्वीकृतास्तेषामेव विवेचनमत्र क्रियते।

1. न्यूनम् - यस्मिन् वाक्ये कस्यापि पदस्य न्यूनता दृश्यते तत्र न्यूनं दोषः। यथा –

दृष्टं दृष्ट महाराज! त्वदर्थाभ्यर्थनक्रुधा।
यत्ताडयति मामेव यद्वा तर्जयति भ्रुवा।।[21]

श्लोकेऽस्मिन् कर्तृपदस्याभावात् न्यूनं दोषः। यत्ताडयति मामेवं इत्यस्य स्थाने यत्ताडयति मामेषेति पदप्रयोगेन न दोषः।

2. विसन्धिः – वाक्ये यत्र न सन्धिस्तत्रापि सन्धिविधानं, सन्धिनियमे सत्यपि न सन्धिः, विसन्धिदोषः। यथा–

राधे ते अक्षिणी एते श्रीकृष्णे अनुरागिणी।
तथाभिलाषिणी द्रष्टुं लीला नीलाङ्गधारिणः।।[22]

श्लोकोऽयमाचार्यच्छज्जूरामस्य स्वस्य। अत्र इदूदेद्विवचनं प्रगृह्यम्' इति सूत्रेण द्विवचनस्य प्रगृह्यत्वाद् अचिनित्यमिति ' सूत्रेण प्रकृतिवद्भावविधानादसकृदेव दोषः।

3. व्याकीर्णम् - यत्रान्वयो व्यवस्थितो न स्यात्तत्र व्याकीर्णं दोषो भवति अर्थात् व्यवहितान्वयो व्याकीर्णम्। यथा–

निशङ्कमङ्कुरितताः रतिवल्लभस्य देवः स्वचन्द्रकिरणामृतसेचनेन।
तत्रावलोक्य सुदृशां हृदयेषु रुद्रस्तद्देहदाहफलमाह स किं न विद्मः।।[23]

इत्यस्य श्लोकस्य–

तत्र स्वचन्द्रकिरणामृतसेचनेन रम्यावलाजनमनः तु महान्महेशः।
निशङ्कमङ्कुरितताः मदनस्य वीक्ष्य तद्देहदाहफलमाह स किं न विद्मः।।

एवं पाठः उचितः। अत्र प्रतीतिविलम्बकारणात्, स्वेष्टबोध-विलम्बात्, रसभङ्गाच्च व्याकीर्णदोषः।

4. समाप्तपुनरात्तम् - समाप्ते सत्यपि पुनरुपात्तम् अर्थात् कथनस्य समाप्ते सत्यपि तस्य पुनर्ग्रहणं समाप्तपुनरात्तम् इति। यथा–

छेतुमिन्दौ भवद्वक्त्रबिम्बविभ्रमविभ्रमम्।
शङ्के शशाङ्कमनाङ्के भिन्नभिन्नविधिर्विधिः।।[24]

अत्र चतुर्थपादो व्यर्थो द्वित्तीये च विभ्रमोऽधिकपददोषो विद्यते। अत्र विभ्रमस्य स्थाने बिम्बविभ्रममब्जभूः एवं पाठयं, चतुर्थपादस्य निराकाङ्क्षत्वमत्र दूषकताबीजम्।

5. भग्नप्रक्रमम् - भग्नः क्रमो यस्य तद्भग्नप्रक्रमम् अर्थात् यस्य प्रकृष्टरूपेण क्रमभङ्गः स्यात् तद्भग्नप्रक्रममिति।

''निजास्य चन्द्रस्य सुधाभिरुक्तिभिः।।[25]

अत्र निजास्य चन्द्रस्य सुभाषितामृतैः पाठो यक्तियुक्तः। निजास्यचन्द्रौ क्रमेणोपक्रम्य तदुभयोचितयोरुक्तिसुधयोः पौर्वापर्यमुचितम्।

6. **यतिर्भङ्गः** – कस्यापि छन्दसः कस्मिन्नपि चरणे यत्र यतिर्भङ्गो भवति तत्र यतिर्भङ्गदोषः। यथा–

"सविधमधुनाऽलङ्कुर्वन्ति ध्रुवं रविरश्मयः[26]।"

श्लोकांशेऽस्मिन् षष्ठे वर्णे पदसन्धानकृता यतिरश्रव्यतामावहति।

7. **छन्दो भङ्गः**:– यत्र लक्षणानुसारेण न छन्दप्रयोगस्तत्र छन्दभङ्गः। यथा–

"यतः सुराणां सुरभिर्नृणां तु[27]"

अत्रोपेन्द्रवज्रा छन्दः, यस्य लक्षणम् – 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गः' वर्तते। पद्यांशेऽत्र गुरोः स्थाने लघोः सत्वात् छन्दभङ्गो दोषः। अत्र 'यतः सुराणां सुरभिर्नराणाम्' एवं पाठो भवितव्यः।

8. **वाक्यगर्भम्** – यत्रैकस्मिन् वाक्येऽपरं वाक्यं गर्भितं स्यात्तत्र वाक्यगर्भम्। यथा–

"तस्यार्थे गरुडामरेन्द्रसमरः स्थाने स जानेऽजनि।[28]"

श्लोकेऽस्मिन् अहं ज्ञाने इति वाक्यमजनि इत्यस्य वाक्यस्य मध्ये प्रविष्टं तस्मादत्र वाक्यगर्भम्।

9. **अरीतिमत्**– न रीतिमत् अरीतिमत्। अर्थात् यां रीतिमुपक्रम्य प्रवृतिस्तस्या एव भङ्गोऽरीतिमत्। यथा–

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा।
तृणेन वात्येव तयानुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना।।[29]

अत्र 'धावति' इत्यस्मिन् पदे कर्तृवाचकं तिङ्पदं, अनुगम्यते इत्यत्र च कर्मवाचकं तिङ्पदमिति। यन्न युक्तियुक्तं तस्मादरीतिमत्।

10. **अविमृष्टविधेयांशः** – यत्र विधेयांशस्य विमर्शो (प्रधानरूपेण परामर्शः) न स्यात्तत्राविमृष्टविधेयांशदोषः। यथा–

किमसुभिर्ग्लपितैर्जड मन्यसे, मयि निमज्जतु भीमसुतामनः।
मम किल श्रुतिमाह तदर्थिकां नलमुखेन्दुपरां विबुधः स्मरः।।[30]

अत्र श्रुतिप्रमाणेन प्राणान्ते सर्वेषां मनः चन्द्रे विलीयते तस्य समासेन दमयन्त्या मनसः प्राधान्यमविमृष्टं तस्मादत्राविमृष्टविधेयांशः। अत्र प्राधान्यं दमयन्त्या मनसः, तस्यैव गौणीभावात् दोषः। अत्र भीमभुवो मन इति पाठ उचितः।

11. नेयार्थम् - यस्य वाक्यस्यार्थं बलेन नीयते। अर्थात् शक्यसम्बन्धेनाशक्यार्थस्योपस्थितिर्नेयार्थम्। यथा–

अवधृत्य दिवोऽपि यौवतैर्नसहाऽधीतवतीमिमामहम्।
कतमस्तु विधातुराशये पतिरस्या वसतीत्यचिन्तयम्।।[31]

अत्र न सहाधीतवतीमसदृशीं, ततोऽप्यधिकसुन्दरमित्यर्थः। स च न शक्यार्थस्तस्मान्नेयार्थदोषः। अर्थात् अशक्यार्थस्योपस्थितत्वान्नेयार्थदोषः।

12. निहितार्थम् : यत्र द्वयर्थकस्याप्रसिद्धपदस्य प्रयोगस्तत्र निहितार्थम्, अर्थात् निहितमर्थद्वयं यत्राप्रसिद्धं तत्र निहितार्थम्। यथा–

(क) नृपः पतङ्गं समधत्त पाणिना।
(ख) भैमीङ्गितानि शिविकामधरे वहन्त।।
(ग) कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते।[32]

एतेषु पद्यांशेषु पतङ्गाधराध्ययनशब्दाः शलभाधरोष्ठाध्ययनेषु प्रसिद्धास्सन्ति ये च हंसाधोभागप्राप्त्यार्थेषु निहितास्तस्मान्निहितार्थदोषः।

13. विमतम् : विपरितं मतं यत्र तत्र विमतं विरुद्धमतिकृद्वा। यथा–

'न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे'[33]

इत्यत्र प्रतिमाशब्द उपमायां प्रयुक्तेऽपि त्वरया मूर्तिप्रतीतिकरत्वाद्विरुद्धमतिकृत् दोषः।

14. अप्रसिद्धम् : न प्रसिद्धं यत्पदं तस्य वाक्ये प्रयोगः प्रसिद्धिहतं तस्यैव नामान्तरमप्रसिद्धमिति। यथा–

''कङ्कणालिकलहैश्च नृत्यतां कूजितं सुरतकूजितं तयोः।[34]''

मञ्जीरादिषु रणितं खगेषु कूजितं, सुरते मणितं, मेघादिषु च गर्जितं प्रसिद्धं, परञ्चात्र सुरते कूजितमप्रसिद्धम्।

एवं चतुर्दशवाक्यदोषाः साहित्यबिन्दुकारेण प्रतिपादिता येऽत्र विवेचिताः।

अर्थदोषाः – यत्र विवक्षित एवार्थोऽन्यथाभिधानेऽपि दुष्यति सोऽर्थदोषः। शब्दवाक्याभ्यामर्थस्य प्रतीतिस्तस्मात्पदवाक्यदोषानन्तरमर्थ-दोषाणां प्रसङ्गः समायाति। काव्यप्रकाशे मम्मटस्त्रयो विंशति अर्थदोषाणां वर्णनं कृतवान्। साहित्यदर्पणकारो द्वाविंशति अर्थदोषान् प्रतिपादयति। साहित्यबिन्दुकारो–'ग्राम्यादयश्चार्थ दोषाः'[35] इत्युक्त्वा तत्रैव वृत्तौ– ''ग्राम्यादीत्यादिना–व्याहताश्लीलनिर्हेतुदुष्क्रमाऽनवीकृत–पुनरुक्तहीनाधिकोपमानां संग्रह[36]।'' भणति। एतेषामेव दोषाणां क्रमेणात्र विवेचनं क्रियते–

1. ग्राम्यः – ग्राम्यजनोक्तिरसामाजिकजनस्योक्तिर्वा या लोके प्रचलिता परञ्च शास्त्रेष्वप्रसिद्धा सोक्तिः ग्राम्या, तादृशोऽर्थश्च यत्र तत्र ग्राम्यदोषः। यथा–

''निजाननस्पर्शनमर्प्यते त्वया वरं किमस्मै न तितान्तमर्थिने[37]।''

अत्र हे सखि वक्त्रसंयोगो नलाय त्वया दमयन्त्या कथं नार्प्यते एवं विधोऽर्थो ग्राम्यः। सहृदयायायमर्थोऽश्लीलवत्प्रतीयते।

2. व्याहतम् : पूर्वमुत्कर्षोऽपकर्षो वा उक्त्वानन्तरं तदन्यथा कथनं व्याहतम्। यथा–

इन्दुं मुखाद्वहु तृणं तव यद् गृणन्ति
नैन मृगस्त्यजति तन्मृगतृष्णयेव।

अत्येति मोहमहिमा न हिमांशुबिम्बं
लक्ष्मीविडम्बिमुखि! वित्तिषु पाशवीषु।।[38]

अत्र पूंर्व चन्द्रस्योत्कर्षः तदनन्तरं दमयन्त्या मुखस्य तुलनायां स चन्द्रः तृणवत्। पूर्वमुत्कर्षः पश्चादपकर्षः।

3. अश्लीलम् : श्लीलं शोभायुक्तं तद्विपरितमश्लीलम् अर्थात् न शोभाजनकम् अश्लीलमिति। यथा–

बह्वमानि विधिनापि तावकं कण्ठनेत्रयुगमन्तराङ्ककम्।
स व्यधादधिकवर्णकैरिदं काञ्चनेर्यदिति तां पुराह सः[39]।।

अत्र हे भैमी तव कपोलद्वयं ब्रह्मणेऽपि रोचते यतोहि तेन तव गौर्वर्णो निर्मितः। एवं विधोऽर्थः काव्येऽश्लीलतां पोषयति।

4. निर्हेतुः – यत्र हेतुर्नोक्तस्तत्र निर्हेतुः। यथा–

आसते शतमधिक्षितिभूपाः तोयराशिरसि ते खलु कूपाः।
किं ग्रहा दिवि न जाग्रति ते ते भास्वतस्तु कतमस्तुलयास्ते।।[40]

अत्र नृपतित्वं सर्वत्रतुल्यं नले गम्भीराशयत्वमन्येषु तदभावत्वात् निर्हेतुः, अर्थात् गुणाभावस्य हेतुर्नोक्तस्तस्मान्निर्हेतुः।

5. दुष्क्रमः – यत्र न कश्चित्क्रमस्तत्र दुष्क्रमः, दुष्टः क्रमो यस्य सः।

मुखपाणिपदाक्षिणपङ्कजैरचितांगेष्वपरेषु चम्पकैः।
स्वयमादित यत्र भीमजा स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियम्।।[41]

श्लोकेऽस्मिन् मुखाक्षिणोः क्रमो भवितव्यः, तद्विरुद्धात्, अर्थात् दुष्क्रमत्वादेव दुष्क्रमः।

6. अनवीकृतः न दृश्यते न कृतो वा नूतनोऽर्थो यत्र तत्रानवीकृतदोषः। न नवीकृतः अनवीकृत इति। यथा–

''दत्त्वात्मजीवं त्वयि जीवदेऽपि शुध्यामि जीवाधिकदे तु केन।[42]''

अत्र जीवशब्दस्यानेकबारमुक्तिः कवेरशक्तिं प्रदर्शयति। नैवानेन पदेन कोऽपि नवीकृतोऽर्थस्तस्मादत्रानवीकृतो दोषः।

7. पुनरुक्तम् : एकस्यार्थस्य यत्र कथनानन्तरं पुनः कथनं स्यात्तत्र पुनरुक्तम्। यथा–

रक्षः स्वरक्षणमवेक्ष्य निजं निवृत्तो विधाधरेष्वधरतां वपुषैव भैम्याः।
गन्धर्वसंसदि न गन्धमपि स्वरस्य तस्या विमृश्य विमुखोऽजनि यानवर्गः।।[43]

श्लोकेऽस्मिन् तस्या विमृश्य विमुखोऽजनीत्यर्थस्य पुनरुक्तिः, तस्मादत्र पुनरुक्तदोषः।

8. हीनोपमा : यत्रोपमायां हीनत्वं प्रतीयते अपि च यत्रोपमानस्य हीनत्वं तत्र हीनोपमा। यथा–

अमुष्यविद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम्।
अगाहताऽष्टदशतां जीगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्।।[44]

अत्र वेदविद्याया उपमा नीचजातीयनर्तक्या सह कृतत्वात् हीनोपमा। अत्र यदि 'अमुष्य विद्यारसनाग्रवर्तिनी इति योज्येत् तदुचितम्।

9. अधिकोपमा – यत्रोपमेयस्य सादृश्येऽसत्यताऽऽधिक्यं वा प्रतीयते तत्राधिकोपमा दोषः। यथा–"**गुप्तं घटप्रतिभटस्तनि।**[45]" अत्र स्तनयोरुपमा घटेन सह कृतत्वात्तस्य च घटस्य तादृशपरिमाणाभावात् लोकविरुद्धाच्चाधिकोपमा दोषः।

एवं साहित्यबिन्दुकारेण येऽर्थदोषा दर्शितास्तेषां विवेचनं मयाऽत्र यथाग्रन्थ कृतम्। उपमायामेव ग्रन्थकारो लिङ्गवचनकालादिभेदेनापि एते दोषा भवन्ति तेऽपि ज्ञातव्येतित्युक्त्वा तेषामप्युदाहरणानि प्रस्तौति परञ्च मुख्यत्वेनानेन एते नव दोषा एव अर्थगताः कारिकायां स्वीकृताः।

रसदोषाः - रसास्वादे कथमपि यदि बाधा जायते तदा रसदोषो भवति। यतोहि काव्ये तु रस एवात्र जीवितं तस्मिन् यदि दोषः स्यात्तदा तत्काव्यं नैवाद्रियते विद्वद्भिः। आचार्यमम्मटेन विश्वनाथेन च एतेषां

दोषाणां विवेचनं विस्तरेण कृतम्। साहित्यबिन्दुकारोऽपि रसदोषाणां तथैव प्रतिपादनं करोति।

1. रसभावादीनां स्वशब्दवाच्यता - यत्र रसशृङ्गारादिशब्देन, भावः स्थायिसञ्चारिणो व्रीडादिशब्देन वा वाच्यः स्यात्तत्र रसास्वादाभावात् दोष एव।

यथा –

(क) शुचेस्तदासीत्सरसी रसस्य सा। (ख) शृङ्गारमालिङ्ग-दधीश्वरश्रीः। ससंभ्रमा लुप्तरतिः। (घ) व्रीडाजडे किमपि सूचय।[48]

अत्र रसशृङ्गाररतिव्रीडाशब्दा एव शब्देनोक्तास्सन्ति अर्थात् एतेऽत्र वाच्या यस्मात्कारणादत्र रसभङ्गः। अत रसादीनां वाच्यतादोषः, रसस्तु स्वप्नेऽपि न वाच्यः।

2. रसस्य पुनः पुनर्दीप्तिः – काव्येऽवसरानुकूलमेव रसो भवेत्, यतोहि रसस्यानुकूलमेव काव्यं शोभते। यदि तस्यैव रसस्य पुनः पुनः वर्णनं क्रियते तदा दोषायैव। यथा नैषधीयचरिते नलदमयन्त्योर्विलापे विप्रलम्भशृङ्गारः।

3. अकाण्डे प्रथनम् – असमये रसस्य वर्णनं, अनुचितस्थाने वा रसस्य विस्तारः सहृदयेभ्योऽनास्वादाय एव तस्मात्तत्राकाण्डे प्रथनम्। यथा महाभारते द्वयोः त्रिषु वा श्लोकेषु संभोगशृङ्गारस्य वर्णनं वर्तते, परञ्च नैषधे तु कविना पञ्चसु सर्गेषु तस्य वर्णनं कृतम्।

4. अकाण्डे विच्छेदः – असमये रसस्य विच्छेदो भङ्गो व्यर्थविस्तारो वेति। यथा– व्यर्थविस्तरेण प्रतिभाक्षये सति दमयन्त्याः स्वयंवरपर्यन्तं वर्णनं कृतं न तत्परमित्यकाण्डस्य विच्छेदः।

5. अङ्गस्य विस्तृतिः - अङ्गभूतस्य वस्तुनोऽत्यन्तविस्तरेण वर्णनम्। यथा किरातमाघयोः सुराङ्गनाविलासरैवतकवर्णनं, नैषधेऽपि श्रीहर्षेणाप्रधानान्यपि बहुविस्तेण वर्णितानि।

6. अङ्गिनोऽनुसन्धानम् – कस्यापि प्रबन्धस्यावश्यकप्रसङ्गे नायकस्य नायिकाया वा विस्मरणम्। अङ्गिनोऽनुसन्धानं यथा–श्रीहर्षेण नलस्य सौन्दर्यमाधुर्यप्रभृतिगुणानां वर्णनं कृतं परञ्च तस्योदारता-महानुभावतागम्भीरतादीनामुल्लेखो नैव कृतः। अपि च दमयन्त्याः स्वयंवरानन्तरं भीमस्य स्वसुताया गुणकथनं नलं प्रत्युचितम्, परञ्च राज्ञः भार्याया वर्णनं कुत्रापि नैव श्रीहर्षेण कृतम्।

7. अनौचित्यम् – अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणमिति वचनात्, औचित्यं विना रसास्वादो न। क्षेमेन्द्रेणौचित्यविचारचर्चायां विस्तरेणास्य विवेचनं कृतम्। अनौचित्यं यथा नैषधे स्वयंवरप्रसङ्गे तस्यां सभायां त्रैलोक्यवासिनामागमनं, वासुकिप्रभृतीनां फणागणस्य च प्रवेशो दमयन्त्यामनौचित्यं जनयति। एते दोषाः काव्येऽपयशसे एव अत एतेषां परिहारोऽप्यावश्यकोऽस्ति।

एवमाचार्येणछज्जूरामेण साहित्यबिन्दौ यद्यपि दोषवर्णनप्रसङ्गे नैषधीयचरितस्य पद्यानि स्वीकृतान्युदाहरणत्वेन, तथापि नैषधं विद्वदौषधम्, उदितेनैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः, नैषधे पदलालित्यमिति आमुक्तकण्ठप्रसंशया तस्य स्थानं सुविदितमेव।

---

1. श. क. द्वु.भा.2पृ.753
2. ना. शा. 33.21
3. का. अ. भा.1.11,12
4. का.सू. 2.1.1
5. ध्व.2.11
6. सा.द.7.1, का.प्र.7.1
7. सा. बि. 3.1 वृत्तौ
8. सा.ब्रि.3.1 वृत्तौ
9. ना.शा.33.21, का.भा.1.37,47 का.आ. तृतीयपरिच्छेद
10. का.प्र.सप्तम उल्लासः
11. नै. च. 20.11
12. नै. च. 22.138
13. नै. च. 10.134

14. नै. च.-5.32
15. नै. च.-2.62
16. नै. च.-3.64
17. नै. च.- 3.36
18. नै. च.- 6.62
19. नै. च.- 3.64
20. का. प्र. 7.52,सा.द. 7.5-8
21. नै. च.- 20.67
22. सा.बि.- 3.4 वृत्तौ, पृ. 101
23. नै. च.- 11.91
24. नै. च.- 20.20
25. नै. च.- 12.69
26. नै. च.- 19.10
27. नै. च.- 14.1
28. नै. च.- 21.160
29. नै. च.- 1.120
30. नै. च.- 4.52
31. नै. च.- 2.41
32. नै. च.- (क) 1.124, (ख) 11.94, (ग) 3.17
33. नै. च.- 1.23
34. नै. च.- 18.17
35. सा. बि.- 3.5
36. सा. बि.- 3.5 वृत्तौ
37. नै. च.- 16.97
38. नै. च.- 22.135
39. नै. च.- 18.99
40. नै. च.- 5.100
41. नै. च.- 2.96
42. नै. च.- 3.86
43. नै. च.- 11.13
44. नै. च.- 1.5
45. नै. च.- 13.6
46. नै. च.- (क) 9.86 (ख) 14.27 (ग) 9.87 (घ) 11.96

नैषधीयचरिते दमयन्तीसौन्दर्यवर्णनम्

जीवनकुमारः

काव्यमेका कलाऽस्ति। कविः यां कलां समाश्रित्य शब्दार्थौ हि सुधामयौकृत्वाऽवतारयितुं प्रभवति कलाकलितौ भूत्वा च शब्दार्थौ तौ संसारे विचित्र-विचित्रां घटनां घटयितुं समर्थौ भवतः। जनास्तां श्रुत्वा स्वराष्ट्रं रक्षितुं स्वधर्मं पातुं बद्धपरिकराः जायन्ते । एतद्विधां विचित्रां दशां नयन्तीं कविगिर प्राप्यैव तामधिकृत्य सुधिय एवं स्तुवन्ति-

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।।

यया कवेर्वाणी एवंविधं बलमश्नुते सैव 'काव्यकला' इति कथ्यते बुधैः। आदिकाव्यादारभ्य अद्य यावत् अपारे काव्यप्रपञ्चे नैकानि काव्यानि, नाटकानि, चम्पूग्रन्थाः च उदभूवन्। सकलसंस्कृतपारावारे बहवः कवयोऽभूवन्, तेषु कतिपय एव महाकवयः ये महाकाव्यानि विरचय्य अस्मिन् जगति यशः लब्धवन्तः।

महाकविसरणिषु सन्ति कालिदासादयः, तस्यामेव पंक्तौ श्रीहर्ष-भारविमाघादयः दृष्टिपथं समागच्छन्ति। वस्तुतः एते महाकवयः स्व-स्वकाव्यरचनावैशिष्ट्येन एव प्रसिद्धिं लेभिरे। यथा हि महाकविकालिदास उपमासंयोजने विदग्धः मनीषी, तथैवार्थगौरवे भारविः, पदलालित्ये श्रीहर्षकविदण्डिनौ, माघश्च त्रैगुण्यसमन्वित इति स्वीकुर्वन्ति मनस्विनः। विपुलसंस्कृतसाहित्यवाङ्मये महाकाव्यश्रेण्यां पञ्चमहाकाव्यानि समागतानि। तानि- **1.रघुवंशम्, 2.कुमारसम्भवम्, 3.किरातार्जुनीयम्, 4.शिशुपालवधम्, 5.नैषधीयचरितञ्च।** एतेषु महाकविश्रीहर्षविरचितं नैषधीयचरितम् अन्यतमं महाकाव्यमस्ति।

उपर्युक्तमहाकाव्येषु किरातार्जुनीयं शिशुपालवधं नैषधीयचरितञ्चेति ग्रन्थत्रयं बृहत्त्रयीग्रन्थकोट्यां समागच्छति। वस्तुत एते स्व-स्व भाषागाम्भीर्येण, भावगाम्भीर्येण, वर्णनसौष्ठवेनाकारवैपुल्येन च बृहत्त्रयीति संज्ञां प्राप्नुवन्ति। महाकाव्यपरम्परायामपि बृहत्त्रय्यां काव्यशास्त्रयोः संयोजनपरकं महाकाव्यं विद्यते श्रीहर्षप्रणीतं नैषधीयचरितं यत्र न केवलं काव्यस्य काव्यत्वमपितु शास्त्राणां विशेषेण दार्शनिकपक्षेषु चर्चावलोक्यते। एवंभूतस्य विद्वदौषधस्य नैषधीयचरितस्य नायको नलः सर्वगुणसम्पन्नः, यथा प्रातःस्मरणीयस्तथैवास्य नायिकापि। महाकाव्येऽस्मिन् यथा दमयन्तीं प्रति हंसमुखेन नलस्य रूपसौन्दर्यं वर्णितं तथैव नलं प्रति दमयन्त्याः। सा च दममुनेराशिषा राजा भीमस्य जायाया जाता सा आबाल्यादधीतिबोधाचरणयुक्ता सर्वेषां मनसि रराज। पित्रोः वात्सल्यः, संस्कारश्चाहर्निशं तां प्रति चन्द्र इवावर्धताम्। सापि च चन्द्रकलावत् स्वसौन्दर्येण च जनानामाकर्षणस्य संगमो सञ्जाताः। महाकाव्येऽस्मिन् नलदमयन्त्योः मधुरं हृदयावर्जकं च वर्णनमुपलभ्यते। ग्रन्थेऽस्मिन् द्वाविंशतिसर्गाः, 2830 श्लोकाश्च विद्यन्ते। अत्र नलस्य उदात्तचरित्रवर्णनं दमयन्तीविवाहप्रकारश्च विद्यते। अत्र नायकः पुण्यश्लोको नलः नायिका च सकलकामिनीकमनीयमदं दमयन्ती दमयन्तीति। अस्य अङ्गीरसःशृङ्गारः। श्री हर्षेण विरचितेऽस्मिन् महाकाव्ये पाण्डित्यपूर्णरूपेण सर्वेषां शास्त्राणां नियमानां समायोजनं विशिष्टरूपेण क्रियते।

नैषधीयचरितमहाकाव्ये प्रतिपदं पदलालित्यावेक्षणात् 'नैषधे पदलालित्यम्' इत्यपि अभियुक्तोक्तिः प्रामाणिकी। अलङ्काराणां रमणीयप्रयोगेण विविधरसानां सन्निवेशनेन चास्य काव्यस्य शोभां वर्धयित्वा कविरयम् अनुपमवैदुष्यतां प्राप्नोति। यथा उच्यते- 'नैषधं विद्वदौषधम्'।

श्रीहर्षमहाकवेः कृतिर्नैषधीयचरितं कस्य न कृतिनो मानसमावर्जयति, बृहत्त्रय्यां सर्वप्रसिद्धाकृतिरेषा। वस्तुतः भारविमहोदयेन या चमत्कारपूर्णा रीतिः प्रारब्धा तस्याः चरमोत्कर्षः श्रीहर्षे एव दृश्यते इति समीक्षकाणां मतम्। या रसपूर्णा रीतिः कालिदासेन प्रारब्धा सा

कस्मिश्चिदपि साहित्यकारे नोपलभ्यते इति प्राचीनानां मतम्, परं समुपलब्धाः रचनाः *प्रत्यपि दर्शितादराः समीक्षकास्तु परवर्तिकाले। अस्य ग्रन्थस्य महत्त्वं ग्रन्थान्ते स्वयमुद्घोषितं महाकविना-

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठिती मास्मिन्खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः॥[1]

महाकविश्रीहर्षस्य पद्यमिदं किं कथनमिदं न पुष्णाति यदत्र सः साटोपमुल्लिखति यत्कृतभूरिपरिश्रमः सज्जन एवात्र सुखमनुभवितुं शक्नोति, अर्थात् नास्त्यस्मिन् खलखेलनस्य कृते कश्चिदवकाशेति।

करुणचित्रणे कवेरस्य नैपुण्यं दर्शनीयमेव। नैषधे श्रीहर्षेण हंसस्य कथनं क्रूरहृदयेष्वपि कारुण्योत्थापकं भवतीति प्रोक्तम्-

'मुहूर्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः
सखायः स्रवदश्रवो मम।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तर-
स्त्वयैव मातः सुतशोकसागरः॥'[2]

करुणरसः सुकुमारो भवति। अत एव माधुर्यगुणः पदेषु च लालित्यमत्र चमत्कारमुत्पादयति। यथा करुणस्तथैव शृङ्गारोऽपि सुकुमारतमो भवति। अत एव नैषधीयचरितमहाकाव्ये वर्णितं कविकल्पितप्रसङ्गेषु दमयन्त्याः सौन्दर्यवर्णनं विशिष्टचमत्कारकं वर्तते। महाकविश्रीहर्षेण नैषधीयचरितस्य द्वितीयसप्तमसर्गयोः स्वस्य प्रतिभया दमयन्तीसौन्दर्यरूपस्य प्रशंसा बहुत्र विहिता। द्वितीयसर्गे तु तस्या सौन्दर्यवर्णने प्रेमदूतहंसेन नख-शिखवर्णनमतीव सुन्दररीत्या कृतमस्ति।

सौन्दर्यम्- सौन्दर्यशब्दस्य व्युत्पत्यात्मको अर्थो भवति- सुष्ठु उनति आर्द्रीकरोति चित्तम् (**सु+उन्द्+क्लेशेन+अरः**) इति सुन्दरः मनोहरः

इत्यर्थः। कोशानुसारं च **'सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं साधु शोभनम्।'**[3] **(सुन्दरस्य भावः, सुन्दरस्य+ष्यञ्)** सुन्दरत्वम्। तस्य लक्षणं यथा- **''अङ्गप्रत्यङ्गकानां यः सन्निवेशो यथोचितम्। सुश्लिष्टः सन्धिबन्धः स्यात् तत् सौन्दर्य्यमुदाहृतम्॥'' (इत्युज्ज्वलनीलमणिः)।**[4]

श्रीहर्षस्य नैषधीयचरिते दमयन्तीसौन्दर्यवर्णनं सहृदयावर्जकमस्ति। दमयन्तीसौन्दर्यवर्णने श्रीहर्षस्य कतिपयानि निदर्शनान्यत्र प्रदर्श्यन्ते-

नलिनं मलिनं विवृण्वती पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे।
अपि खञ्जनमञ्जनाञ्चिते विदधाते रुचिगर्वदुर्विधम्॥[5]

नभसः कलभैरुपासितं जलदैर्भूरितरक्षुपं नगम्।
स ददर्श पतङ्गपुंगवो विटपच्छन्नतरक्षुपन्नगम्॥[6]

भव्यानि हानीरगुरेतदङ्गाद्यथा
यथानर्ति तथा तथा तैः।
अस्याधिकस्योपमयोपभाता दाता
प्रतिष्ठां खलु तेभ्य एव॥[7]

दमयन्ती शृङ्गाररस्यालम्बनविभावत्वेनात्र वर्णिता। हंसमाध्यमेन दमयन्त्याः सौन्दर्यचित्रणमाकर्ण्य नलस्य चेतसि तां प्रत्यभिलाषा जागर्ति। माधुर्यगुणाभिव्यञ्जकाः वर्णाः पदलालित्यं भृशं पुष्यन्ति। अयत्ननिर्वर्त्येनुप्रासालङ्कारः पदलालित्यसौन्दर्य द्विगुणं करोति।

महाकविना श्रीहर्षेण दमयन्ती त्रिभुवनसुन्दरीति रूपेण वर्णिता। तद्यथा-

भुवनत्रयसुभ्रुवामसौ दमयन्ती कमनीयतामदम्।
उदियाय यतस्तनुश्रिया दमयन्तीति ततोऽभिधां दधौ॥[8]

पद्येऽस्मिन् श्रीहर्षः कुलवर्णनप्रसङ्गे वर्णयति अस्या नामधेयं तद् व्युत्पत्तिं च। स कथयति यत् यस्मात्कारणात् स्वशरीरसौन्दर्येण,

त्रैलोक्यसुन्दरीणां सौन्दर्यवर्णनम् अस्तं गमयन्ती सती उदिता, तस्मात्कारणात् दमयन्ती इति नाम बभार। अत्रानुप्रासालङ्कारप्रयोगेण वर्णनमद्भुतं संजातम्। तस्याः अधरोष्ठस्य सौन्दर्यं प्रदर्शयति कविः। यथा हि-

अधरं खलु बिम्बनामकं फलमस्मादिति भव्यमन्वयम्।
लभतेऽधरबिम्बमित्यदः पदमस्या रदनच्छदं वदत्॥[9]

इत्यत्र कविना दमयन्त्याः अधरोष्ठस्य सौन्दर्यं बिम्बफलतुल्यमुत्प्रेक्षितम्। उत्प्रेक्षाविच्छित्तिरत्र विशिष्टैव। तस्याः मुखमण्डलस्य चर्चा एवं विहिता महाकविना-

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम॥[10]

अस्मिन् पद्ये ब्रह्मणा दमयन्त्या मुखं निर्मातुं चन्द्रबिम्बात्सुन्दरभागो गृहीतः। तस्माद्धेतो-श्चन्द्रापेक्षया दमयन्तीवदनं मनोहरतरमिति वर्णनं करोति कविः। मल्लिनाथेनात्र अपह्नुति-काव्यलिङ्गयोः सङ्करोऽङ्गीकृतः। उदरवर्णनस्य चमत्कारो यथा-

उदरं परिमाति मुष्टिना
कुतुकी कोऽपि दमस्वसुः किमु।
धृततच्चतुरङ्गुलीव यद्व-
लिर्भाति सहेमकाञ्चिभिः॥[11]

अत्र दमयन्त्याः उदरे त्रिबलिसुवर्णमेखलया सह तस्याः सौन्दर्यं प्रतिपादितमस्ति। चरणकमलस्य वर्णनं यथा-

श्रितपुण्यसरःसरित्कथं न समाधिक्षपिताखिलक्षपम्।
जलजं गतिमेतु मञ्जुलां दमयन्तीपदनाम्नि जन्मनि॥[12]

इत्यत्र दमयन्त्याः चरणकमलस्य सौन्दर्यं समासोक्त्या वर्णितमस्ति। नेत्रद्वयस्य चर्चा यथा-

अखिलं विदुषामनाविलं
सुहृदा च स्वहृदा च पश्यताम्।
सविधेऽपि नसूक्ष्मसाक्षिणी
वदनालंकृतिमात्रमक्षिणी।।[13]

सप्तमसर्गे तु दमयन्त्या अलौकिकसौन्दर्येण नलस्य विस्मयो यथा–

पदे विधातुर्यदि मन्मथो वा
ममाभिषिच्येत मनोरथो वा।
तदा घटेतापि न वा तदेतत्
प्रतिप्रतीकाद्भुतरूपशिल्पम्।।[14]

पद्येऽस्मिन् कविना दमयन्तीसौन्दर्यप्रसङ्गे राजा नलद्वारा दमयन्त्या समस्ताङ्गानां रचना लोकेऽस्मिन् विलक्षणा इत्यतिशयोक्त्या वर्णितम्। तत्र नलः कथयति यत् ब्रह्मणाप्येतत्प्रत्यवयवं सौन्दर्यं कर्तुं न शक्यत अर्थात् ईदृक् सौन्दर्यं कदापि कुत्रापि न दृष्टमिति भावः। अपि च–

तरङ्गिणी भूमिभृतः प्रभूता
जानामि श्रृङ्गाररसस्य सेयम्।
लावण्यपूरोऽजनि यौवनेन
यस्यां तथोच्चैस्तनताघनेन।।[15]

अत्र नलः चिन्तयति यत् इयं दमयन्ती भीमः भूभर्तुः पर्वतात् सम्भूता, साक्षात् रसराजस्य सरिता अस्तीति। रूपकातिशयोक्तिशोभाऽत्र दर्शनीया। पुनः दमयन्त्याः मुखाद्यङ्गानां विषये वर्णयति कविः–

सत्येव साम्ये सदृशादशेषाद्
गुणान्तरेणोच्चकृषे यदङ्गैः।
अस्यास्ततः स्यात्तुलनापि नाम
वस्तु त्वमीषामुपमापमानः।।[16]

अस्मिन् पद्ये भैम्याः मुखादिशरीराङ्गैः समस्तात् चन्द्रतुल्याद् केनापि गुणविशेषेणोत्कण्टैः अभावि, यतोहि तस्याः अङ्गनामुपमा अपमान एव इत्युक्तमस्ति। भैम्या त्रिकालानां स्त्रीणां सौन्दर्यं स्वस्य लावण्येन विजिता इत्याह कविः-

पुराकृतिस्त्रैणमिमां विधातु-
मभूद्विधातुः खलु हस्तलेखः।
येयं भवद्भाविपुरंध्रिसृष्टिः
सास्यै यशस्तज्जयजं प्रदातुम्।।[17]

दमयन्त्याः नयनवर्णनप्रसङ्गे प्रोक्तं कविना-

चकोरनेत्रैणदृगुत्पलानां निमेषयन्त्रेण किमेष कृष्टः।
सारः सुधोद्गारमयः प्रयत्नैर्विधातुमेतन्नयने विधातुः।।[18]

भैमीवाणीमाधुर्यवर्णनं यथा-

प्रसूनबाणाद्वयवादिनी सा
काचिद्विजेनोपनिषत्पिकेन।
अस्याः किमास्यद्विजराजतो वा
नाधीयते भैक्षभुजा तरुभ्यः।।[19]

इत्यत्रापि टीकाकारः मल्लिनाथः उत्प्रेक्षाऽङ्गीकृता।

दशमे सर्गेऽपि इन्द्रस्य मुखेन दमयन्त्याः रूपसौन्दर्यं कथयति। तद्यथा-

स्मितेन गौरी हरिणी दृशेयं
वीणावती सुस्वरकण्ठभासा।
हेमेव कायप्रभयाङ्गशेषैस्त-
न्वी मतिं क्रामति मेनकापि।।[20]

इत्थं महाकविश्रीहर्षेण त्रिषु स्थलेषु दमयन्त्याः सौन्दर्य वर्णितम्। नैषधीयचरितस्य द्वितीयसर्गे हंसमुखेन, सप्तमसर्गे नलमुखेन, दशमसर्गे च इन्द्रमुखेन दृष्टिभेदात् सौन्दर्यवर्णनमपि सर्वत्र विद्यते। हंसः तु मुख्यतया सौन्दर्यस्य औदात्यपक्षमेव विवृणोति। अपरतः नायकरूपेण चित्रितः नलो यदा तां पश्यति तदा अंगप्रत्यङ्गानां सौन्दर्य तं भृषमाह्लादयति अत एव तेन कृतं सौन्दर्यवर्णनं शृङ्गारिकमस्ति। भैम्याः सौन्दर्यम् इन्द्रमपि चमत्करोति यतो हि लावण्यवत्याः मेनकाद्यपसरसां सौन्दर्यमपि दमयन्त्याः न्यक्रियते। अतएव इन्द्रः एतद्दृष्ट्या एव सौन्दर्य चित्रयति। सर्वेषु एव प्रसङ्गेषु कवेः उक्तिवैचित्र्येण वाच्यालङ्कारसन्निवेशेन च चित्रणम् अत्यद्भुतम् अद्वितीयं च सञ्जातम् इति दिक्।

---

1. नैषध. 22/152
2. तत्रैव. 1/136
3. अमर. 3.1.52
4. शब्दकल्पद्रुमः
5. नैषध. 2/23)
6. तत्रैव. 2/67
7. तत्रैव. 7/16
8. तत्रैव. 2/18
9. तत्रैव. 2/24
10. तत्रैव. 2/25
11. तत्रैव. 2/35
12. तत्रैव. 2/39
13. तत्रैव. 2/55
14. तत्रैव. 7./10
15. तत्रैव. 7./11
16. तत्रैव. 7./14
17. तत्रैव. 7./15
18. तत्रैव. 7./32
19. तत्रैव. 7./48
20. तत्रैव. 10./134

लेखकसङ्केतवीथी

1. **प्रो. अमिता शर्मा** साहित्य विभाग, श्री. ला. बा. शा. रा. सं. विद्यापीठ, नई दिल्ली
2. **प्रो. रहसबिहारी द्विवेदी** लब्धावसर आचार्यः, रानीदुर्गावती वि. वि. जबलपुरम्
3. **डॉ. रमाकान्तपाण्डेयः** साहित्यविभागः, जयपुरपरिसरः, रा. सं. संस्थानम्
4. **डॉ. कल्पना जैन** सहायक आचार्या, श्री. ला. बा. शा. रा. सं. विद्यापीठ, नई दिल्ली
5. **डॉ. भारतभूषणरथः** साहित्यविभागः, रा. सं. विद्यापीठम्, तिरुपतिः
6. **प्रो. रमेशकुमार पाण्डेय** शोध तथा प्रकाशन विभाग प्रमुख, श्री. ला. बा. शा. रा. सं. विद्यापीठ, नई दिल्ली
7. **प्रो. प्रभुनाथद्विवेदी** लब्धावसर आचार्यः, महात्मा गान्धी काशी विद्यापीठ, वाराणसी
8. **डॉ. सुमनकुमारझा** साहित्यविभागः, श्री. ला. बा. शा. रा. सं. विद्यापीठम्, नवदेहली
9. **डॉ. पंकजकुमारव्यासः** हरियाणासंस्कृतविद्यापीठम्, बघौला
10. **गोपालकुमारझा** परियोजना सहायकः, श्री. ला. बा. शा. रा. सं. विद्यापीठम्, नवदेहली
11. **डॉ. महेशकुमारद्विवेदी** श्री एकरसानन्द आदर्शसंस्कृतमहाविद्यालयः, मैनपुरी
12. **प्रो. रमेशचन्द्रचतुर्वेदी** लब्धावसर आचार्यः, श्री. ला. बा. शा. रा. सं. विद्यापीठम्, नवदेहली

13. **डॉ. भागीरथिनन्दः** साहित्यविभागः, श्री. ला. बा. शा. रा. सं. विद्यापीठम्, नवदेहली

14. **डॉ. रश्मिमिश्रा** साहित्य विभाग, श्री. ला. बा. शा. रा. सं. विद्यापीठ, नई दिल्ली

15. **डॉ. अरविन्द कुमार** साहित्य विभाग, श्री. ला. बा. शा. रा. सं. विद्यापीठ, नई दिल्ली

16. **अनिलकुमारः** नवदेहली

17. **जीवनकुमारः** परियोजना सहायकः, श्री. ला. बा. शा. रा. सं. विद्यापीठम्, नवदेहली



श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्

(मानितविश्वविद्यालयः)

नवदेहली-110016